विषय-सूची

16858

हिन्दी कविता का विकास

हिन्दी कविता वीर गाथाओं में जन्म लेकर भक्ति की अनन्तधाराओं में बहती हुई रीतिकालीन सीमाओं में आबद्ध हो गई और वर्तमान युग में गद्य के संयम और विचारों में परिष्कृत होती हुई आज प्राचीन, मध्यकालीन और अर्वाचीन युग के संगम पर भारतीय मानस का निर्माण कर रही है। हिन्दी कविता के विस्तृत और विशाल इतिहास को मोटे तौर पर निम्न-लिखित चार धाराओं में बाँटा जा सकता है--

(१) आदि-काल या वीर गाथा-युग संवत् १००० से १४०० तक

(२) पूर्व मध्यकाल या भक्ति-युग संवत् १४०० से १७०० तक

(३) उत्तर मध्यकाल या रीति-युग संवत् १७०० से १९०० तक

(४) आधुनिक काल या गद्य-युग संवत् १९०० से अबतक

वीरगाथा युग--भारत का इतिहास हर्ष के राज्यकाल के पश्चात् क्षत्रिय राज्य-तन्त्र का काल माना जाता है। इस काल में हमारा देश उत्तरी भारत से दक्षिणी भारत तक अनेक रियासतों में विभक्त हो चुका था। उन रियासतों में स्वतंत्र सत्ता स्थापित थी। देश में कोई केन्द्रीय शक्ति नहीं थी, फलस्वरूप अनैक्यता की प्रवृत्ति बढ़ रही थी। पारस्परिक संघर्ष और वैमनस्य की भावना राष्ट्र की संगठन-शक्ति को छिन्न-भिन्न कर रही थी। दिल्ली से दक्षिण भारत का सम्बन्ध-विच्छेद हो गया था। इस तरह मानो कभी कुछ रहा ही नहीं। गहरवार, चौहान, चंदेल और परिहार आदि क्षत्रिय राज्य आपस में अकारण ही लड़ा करते थे।

इस उथल-पुथल और संघर्ष के युग में समाज की प्रवृत्ति निश्चित रूप से संकीर्ण स्वार्थमयी और प्रवंचनामयी हो गई थी। इसका स्पष्ट प्रभाव

साहित्य पर भी पड़ा। साहित्य के क्षेत्र में राजनैतिक संघर्षों, वैमनस्यों और पारस्परिक घात-प्रतिघातों का वर्णन प्रधान हो गया। 'कांचन और कामिनी' के नाम पर लड़ने वाले राजाओं को 'वीर नायक' की उपाधि दी गयी और उनकी गाथाओं को काव्य का विषय निर्धारित कर लिया गया। राष्ट्रीयता 'रूप और सौन्दर्य' की दासी बन कर अपनी सत्ता अपने हाथों मिटाने लगी। कवि-गण विभिन्न राजाओं के शौर्य, पराक्रम और लोमहर्षक अत्याचारों के वर्णन में अपने कवि कर्म की इति-श्री समझते थे। वही कवि समझा जाता था जो वीर गाथाओं का कलेवर पहना कर मोह और वासना को 'गीत' का रूप दे सके। वही अमर साहित्यकार माना जाता था जो भाई-भाई को आवेश और आवेग में लड़ा दे। लोगों में जोश था; परन्तु होश नहीं। छोटी-छोटी बातों पर तलवारें चमक जाती थीं और रक्त की धारा बहायी जाती थी।

कहने का तात्पर्य यह है कि हिन्दी कविता का आदि काल संघर्ष का काल है। यह संघर्ष सिद्धान्तों का नहीं, स्वार्थों का संघर्ष है और इसी संघर्ष-शील प्रवृत्ति और उससे प्रभावित सामाजिक चित्तवृत्ति का निरूपण इस काल में किया गया। इसीलिए यह काल वीर गाथा काल के नाम से भी पुकारा जाता है। इस काल को कुछ लोगों ने आदि काल के नाम से भी पुकारा है और हम भी उससे सहमत हैं, क्योंकि इस काल में ही हमारी हिन्दी भाषा की उत्पत्ति मानी जाती है, और अपभ्रंश साहित्य से ही हिन्दी साहित्य का आरम्भ होता है। हमने इस काव्यधारा को वीर काव्य-धारा का नाम दिया है, क्योंकि वीर रस इस काल की काव्य-धारा का प्रधान रस था और वस्तुतः रस ही काव्य की आत्मा है अथवा भावनाविशेष ही युग निर्माण के मूल में निहित होती है। वीर-काव्य-धारा को ऐतिहासिक क्रम के अनुसार दो धाराओं में विभक्त किया जा सकता है--(१) अपभ्रंश काव्य-धारा और (२) देश-भाषा काव्य-धारा।

अपभ्रंश भाषा सम्वत् १०५० से लेकर सम्वत् १३७५ तक साहित्य की

भाषा बनी रही; इसलिए इस काल के प्रमुख साहित्यिक ग्रन्थ इसी भाषा में लिखे गए। यह भाषा प्राकृत भाषा का विकृत रूप है। परन्तु राजा भोज से लेकर हम्मीर देव के काल तक वह साहित्यिक भाषा का गौरव प्राप्त किये रही। इस भाषा में सम्वत् ९९० में देवसेन ने 'श्रावकाचार्य' नामक ग्रन्थ लिखा, जिसमें जैन सिद्धान्तों का निरूपण है। इसी काव्य-धारा में जैन कवियों की अन्य रचनाएँ 'श्रुति पंचमी कथा', 'योग सार', 'जसहर चरित्र' आदि हैं। ये रचनाएँ धार्मिक विचार-धाराओं से ओत-प्रोत हैं। इनमें जीवन-परक अनुभूतियों का नितान्त अभाव है इसलिए हम इस काव्य-धारा के अन्य साहित्यिक ग्रन्थों का उल्लेख करेंगे। हेमचन्द्र गुजरात के सोलंकी राजा सिद्धाराज जयसिंह और उनके भतीजे कुमारपाल के यहाँ इनका बड़ा सम्मान था। इन्होंने 'सिद्ध हेमचन्द शब्दानुशासन' नामक व्याकरण ग्रन्थ लिखा, जिसमें संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनों भाषाओं का समावेश किया। इनके प्रसिद्ध दोहों में से एक उदाहरण के रूप में देखिए--

भल्ला हुआ जु मारिया, बहिणि महाराकन्तु।
लज्जेजं तु वयंसिअहु जइ भग्गा घरएंतु॥

(अच्छा हुआ जो मारा गया, हे बहिन! हमारा कान्त। यदि वह भागा हुआ घर पर आता तो मैं अपनी समवयस्काओं से लज्जित होती।)

इसी तरह सं० १२४१ में सोमप्रभ सूरि का 'कुमार पाल प्रतिबोध', सं० १३६१ में जैनाचार्य मेरुतुंग का "प्रबन्ध चिंतामणि" और शार्गंधर का 'शार्गंधर पद्धति' आदि ग्रन्थ भी इस काव्य धारा के प्रमुख ग्रन्थ हैं।

देशभाषा काव्य-धारा के अन्तर्गत अपभ्रंश भाषा के लोकरंजक स्वरूप को स्थान दिया गया। अपभ्रंश भाषा का वह ग्रामीण रूप जो जन साधारण में प्रचलित था, इस काव्य-धारा की प्रमुख भाषा बनी और इस धारा में चन्दवरदाई का 'पृथ्वीराजरासो' नरपति नाल्ह का "वीसलदेव रासो", "खुमान रासो" और "हम्मीर रासो" आदि प्रसिद्ध ऐतिहासिक

काव्य लिखे गए। इन समस्त काव्यों को "रासो" नाम क्यों दिया गया, यह एक विचारणीय प्रश्न है। हमारी सम्मति में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का यह मत मान्य होना चाहिए कि "बीसलदेव रासो में काव्य के अर्थ में 'रसायण' शब्द बार-बार आया है और रसायण शब्द से ही 'रासो' हो गया है।" इन धार्मिक और साहित्यिक ग्रन्थों के अतिरिक्त इस काल में कुछ स्फुट रचनाएँ भी हुईं। ऐसी रचनाओं में खुसरो की पहेलियाँ तथा विद्यापतित की 'कीर्तिलता' और 'कीर्तिपताका' आदि उल्लेखनीय हैं।

ये वीर गाथाएँ दो शैली में लिखी गयी हैं—प्रथम तो प्रबन्ध काव्य के रूप में और द्वितीय चारण-कथाओं के रूप में। प्रबन्ध काव्य के रूप में 'पृथ्वीराज रासो' और चारण-कथा के रूप में 'बीसलदेव रासो' के नाम लिए जा सकते हैं।

अन्त में हम यह कहना चाहते हैं कि इस काव्य धारा में हिन्दी कविता अपभ्रंश, प्राकृत और संस्कृत की मिश्रित भाषा में अपने वीर-प्रवण भाव सँजोती रही तथा जन-साधारण में 'पौरुष' और 'उत्साह' के बीज बोती रही, लेकिन पारस्परिक संघर्ष ने हमारी राजनैतिक शक्ति नष्ट कर दी और अन्त में हमारे स्वार्थ ने विदेशी मुसलमानों को निमंत्रित किया, हम पदाक्रान्त हो गए। पृथ्वीराज चौहान के अस्त होते ही जयचन्द की लंका-दहन नीति ने वस्तुतः हमारी संस्कृति और सभ्यता की होली जला दी। हम अपनी ही लगायी आग में जल कर भस्म हो गए और इस मरघट पर मुसलिम शासन के साथ एक नवीन युग का जन्म हुआ।

पूर्व मध्यकाल या भक्ति युग—देश में मुगल शासन की आक्रमण वादी नीति साधारणतया समस्त वर्ग को और विशेषतया हिन्दू जनता को आतंकित करने लगी। मन्दिर के स्थान पर मस्जिदों का निर्माण तथा वेद और उपनिषदों के अध्ययन पर प्रतिबन्ध ऐसे गर्हित कार्य हो रहे थे, जिससे जन-साधारण का जीवनयापन कठिन हो गया था। सामाजिक क्षेत्र में हिन्दू समाज में जाति-पाँति, अस्पृश्यता, बहु-विवाह तथा बाल-विवाह की

प्रथा के कारण सामाजिक और कौटुम्बिक जीवन भी सुखमय नहीं था। इधर राजनैतिक क्षत्र में अनेक प्रकार के जजिया (कर) के कारण और नागरिक स्वतन्त्रता के अपहरण से आर्थिक और नैतिक दशा भी दयनीय हो गयी थी। जनता का मनोबल दुर्बल हो गया था। फलस्वरूप पराजयवादी मनोवृत्ति का जन्म हुआ। जनता मानव-समाज में कोई आश्रय न पाकर एक विराट् की कल्पना में उपासना की ओर झुकी, जिससे भक्ति का जन्म हुआ। मानव हृदय की परमात्मा के प्रति उन्मुख जिज्ञासा का नाम भक्ति है और भक्ति ही भौतिक संघर्ष में शक्ति और जाग्रति पैदा करती है; फलस्वरूप हिन्दी काव्यधारा को भावना, उपासना, साधना, श्रद्धा और प्रेम के तत्व मिले। इसी भावमय वातावरण में भक्ति-काव्य-धारा का जन्म हुआ। दक्षिण के सन्तों ने इस अवसर का लाभ उठा कर उत्तरी भारत में भक्ति का प्रचार आरम्भ किया। मध्वाचार्य, रामानुजाचार्य और निम्बार्काचार्य ने भक्ति की लहर देश के एक छोर से दूसरे छोर तक पैदा की। देश की जनता में कुछ जाग्रति पैदा हुई और कालान्तर में वही भक्ति निर्गुण और सगुण दो धाराओं में विभक्त हो गयी।

निर्गुण भक्ति की भी दो धाराएँ ज्ञानाश्रयी शाखा और प्रेममार्गी सूफी शाखा हुईं तथा सगुण भक्ति में राम-भक्ति काव्य-धारा और कृष्ण-भक्ति काव्य-धारा का जन्म हुआ। यह युग हिन्दी कविता का उदयोन्मुख काल है, क्योंकि इस काल में निर्गुणोपासक कबीर तथा जायसी और सगुणोपासक सूर तथा तुलसी ऐसे महाकवियों का जन्म हुआ। इन महान् सन्तों ने अपनी रचनाओं से हिन्दी को ज्ञान, विचार और भाव-प्रदान करने के साथ ही भाषा, शैली और रस भी प्रदान किया, जिससे 'बीजक', 'पद्मावत', 'सूरसागर' और 'रामचरित मानस' ऐसे महाकाव्य भी दिए।

कबीर ने हिन्दू अद्वैतवाद और मुसलिम एकेश्वरवाद के आधार पर आत्मा और परमात्मा में स्त्री और पुरुष भावों की स्थापना कर सखी

अथवा प्रेमा भक्ति को जन्म दिया। हिन्दी कविता में दार्शनिक विचारों का रूपान्तर कर कबीर ने हिन्दी के नैतिक पक्ष को ऊँचा उठाया। हम कविता में ज्ञान का सरस और मधुर वर्णन पढ़ कर मग्न हो गए। कबीर ने जनता की भाषा में जनता के भावों और विचारों का प्रतिनिधित्व करते हुए हिन्दू अवतारवाद, मूर्तिपूजा, और वाह्य आडम्बर तथा मुस्लिम कट्टरता तथा रोजा और नमाज की रूढ़िवादिता का खण्डन कर हिन्दी कविता को समन्वयवादी दृष्टिकोण दिया। जायसी ने कबीर की शुष्क और नीरस सूक्ति-पद्धति का त्याग कर कथा और कहानी की शैली में प्रेम और सौन्दर्य की रचनाएँ अवधी के माध्यम से की। उन्होंने 'पद्मावती' नामक महाकाव्य में सूफी दर्शन-पद्धति का आश्रय लेकर नारी को परमात्मा और पुरुष को आत्मा का प्रतीक मानकर एक ऐसी सरस काव्यधारा बहायी, जिसने भारतीय काव्य धारा की समस्त प्रवृत्तियों को एक नयी दिशा में मोड़ दिया। दर्शन और कला का इतना सरस समन्वय आज से पहले हिन्दी काव्य-धारा में कभी भी नहीं हुआ था। वस्तुतः हिन्दी कविता में माधुर्य, कोमलता और प्रेमानुभूति के दोनों पक्ष, संयोग और वियोग का मार्मिक निरूपण एक साथ दीख पड़ा। कबीर की साखी और बानी में निरूपित दोहा तथा अस्पष्ट चौपाई जायसी के पद्मावत में सबल और स्पष्ट रूप से आयी। हमने यहाँ जीवन की मार्मिक अनुभूतियों का चित्र कविता में चित्रित पाया।

कृष्ण-भक्ति और राम-भक्ति में हिन्दी काव्यधारा सामाजिक और राजनैतिक समस्या प्रधान होने के साथ ही अवतारवाद की आशा-प्रद भावनाओं से भर गयी। यदि सूर की रचनाओं ने हिन्दी काव्य-धारा की सूफी प्रेमानुभूति को भारतीय प्रेमानुभूति की साधना, समर्पण और तन्मयता दी, तो तुलसी की रचनाओं ने उसके एकांगी दृष्टिकोण को सर्वांगीण बनाया। उसने कबीर के खण्डन तथा जायसी के मण्डन की ज्ञानमयी तथा प्रेममयी प्रणाली को ज्ञान, भक्ति तथा कर्म के रंग में रंग कर सर्वव्यापी बना दिया तुलसी ने यथार्थवाद और आदर्शवाद का इतना सुन्दर समन्वय रामचरित-

मानस में किया कि विश्व का साहित्य आज तक उसका कोई उपमान न पा सका। उन्होंने सत्य-असत्य, प्रेम-ज्ञान, सुख-दुख, उत्थान-पतन तथा दैवी और आसुरी प्रवृत्तियों को निरूपण कर पतित और पावन सबको जीवित रहने की प्रेरणा दी। उन्होंने हिन्दी कविता के माध्यम से भारतीय समाज को आस्तिकवाद का सन्देश दिया, परन्तु कर्ममय जीवन की उपेक्षा नहीं की। तुलसी की लेखनी से हिन्दी में तत्कालीन समाज राजनीति और धर्म की विविधि प्रवृत्तियाँ कविता का कलेवर पहन कर आयीं और जनता को वाणी मिली। दोहा, चौपाई, रोला छप्पय, तोटक आदि छन्दों की पूर्वनिश्चित योजना का निर्वाह कर तुलसी ने हिन्दी कविता को शैली की दृष्टि से भी व्यापक बनाया। अवधी और ब्रजभाषा की सरल, स्निग्ध, कोमल तथा प्रशान्त शब्द-योजना कर तुलसी ने हिन्दी कविता को विश्व-भाषा-साहित्य में एक निश्चित स्थान प्राप्त करने योग्य बना दिया।

इस तरह भक्ति काव्य-धारा ने हिन्दी काव्य-धारा को गौरवान्वित कर उसे अमरता प्रदान की। लेकिन हम यह कहे बिना नहीं रह सकते कि भक्ति काव्य-धारा की धार्मिक और कलात्मक उपादेयता कितनी ही महान् हो, उसकी सामाजिक और राजनैतिक उपादेयता उतनी महान् नहीं है; क्योंकि वैराग्य, आत्म-भर्त्सना तथा दीनता के भाव ने लोगों में स्थायी निष्क्रियता भर दी, फलस्वरूप भारतीय समाज में एक प्रकार की उदासीनता, पराजयवादिता और पलायनवादिता उत्पन्न होने लगी। लोगों में यह धारणा घर करने लगी,

अजगर करै न चाकरी
पंछी करै न काम।
दास मलूका कहि गये
सब के दाता राम॥

उत्तर मध्यकाल या रीतियुग—भाग्यवाद और नियतिवादने निष्क्रिय वैराग्य को प्रश्रय दे कर कालान्तर में आलस्य और विलासिता को जन्म दिया। फलस्वरूप मुगलकालीन शासन की 'फैशनेबुल' चाल-ढाल, आचार-विचार, रीति-रिवाज तथा नीति से मिल कर उसने एक नये युग को पृष्ठभूमि तैयार की, जिसे शृंगार काव्य-धारा का काल भी कहते हैं। इस युग में हिन्दी कविता में लक्षण ग्रन्थों के निर्माण की परिपाटी प्रचलित हुई। अब तक लक्षण-ग्रंथों अर्थात् काव्य-ग्रन्थों की रचना होती आ रही थी; अब रीति-ग्रन्थों की रचना आरम्भ हुई, यद्यपि इस काल को जन्म देने का श्रेय आचार्य केशव को ही मिलना चाहिए; लेकिन कहा जाता है कि उन्होंने काव्य-प्रकाश के आधार पर 'कविप्रिया' और 'रसिक-प्रिया' की रचना की थी, परन्तु उस रीति-प्रीति पर परवर्ती कवि नहीं चले; अतएव चिंतामणि रीति-काल अथवा शृंगार-काव्य-धारा के प्रथम कवि अथवा जन्मदाता माने जाते हैं; इन्होंने 'कवि-कुल-कल्पतरु', 'काव्य-प्रकाश' और 'काव्य-विवेक' नामक लक्षण-ग्रन्थों की रचना कर के हिन्दी में रीति-पद्धति की नींव डाली, जिस पर देव, मतिराम, भूषण, भिखारीदास और पद्माकर आदि प्रमुख लक्षण ग्रन्थकार आजीवन चलते रहे। यह काव्य-धारा रीति-पद्धति की दृष्टि से चाहे कितनी ही महान् हो, जीवन व्यापिनी समस्याओं के निरूपण की दृष्टि से हेय समझी जाती है, क्योंकि एक बँधी हुई परिपाटी की लीक पीटते हुए समस्त कवियों ने राधा-कृष्ण, कालिन्दी-कदम्ब, गोपी और गोपबालों को कविता में स्थान दिया। ये विषय इस काल की कविता में इतने 'रूढ़' हो गए थे कि इन पर रचना किए बिना कोई रचना साहित्य में स्थान प्राप्त नहीं कर सकती थी।

वह काल मुगल शासन का चरम काल है। इस काल में जनता भूख, पीड़ा, गरीबी और रोग से कराह रही थी, परन्तु अधिकांश कवि प्रेम और वासना के गीत गाते रहे अथवा चारणों की तरह 'भाटों की विरुदावली' रचते रहे। इन 'दरबारी कवियों' को तत्कालीन नवाबों और बादशाहों ने

रुपयों पर खरीद लिया था और वे इन्हें अपने मनोरंजन का साधन समझते थे। 'रूप और 'सौन्दर्य' में से केवल 'रूप' का वर्णन ही इस काल में अधिक होता रहा। जीवन और समाज की विविध प्रवृत्तियों की ओर से आँखें मूंद कर नायक और नायिकाओं के प्रेम, मान-मनुहार तथा भोग-विलास पर लेखनी उठाने वाले कवियों में भूषण और लाल ऐसे कुछ कवियों ने राष्ट्रीय रचनाएँ भी कीं। महाकवि भूषण ने शिवाजी तथा लाल ने छत्रसाल को अपना नायक बना कर मुगल बादशाहों के उत्पीड़न के विरुद्ध अपनी आवाज उठाई। इन दोनों कवियों ने वीररस में रचनाएँ लिखीं। इसी काल में महाकवि बिहारी ने अपनी सतसई की रचना कर नीति, ज्योतिष, वैद्यक, दर्शन और ज्ञान-विज्ञान की बहुत-सी समीक्षाओं पर तीखा व्यंग्य किया।

इस काल में हिन्दी कविता ने ब्रजभाषा की सरस मधुर और कोमल शब्द-व्यंजना का आश्रय ले कर 'अलंकार विधान' में रुचि दिखायी।

आधुनिक काल या गद्य-युग—मुगल साम्राज्यके अन्तके साथही साथ भारत में अंग्रेजी राज्य का आगमन हुआ। ब्रजभाषा साहित्यिक भाषा के रूप में 'श्री' हीन हो गयी और खड़ी बोली में गद्य की नींव पड़ी। मुद्रण-कला वाद-विवाद तथा पद्य की प्राचीनता ने मिल कर विज्ञान की शुष्कता से गठ-बन्धन किया; फलतः पद्य-युग का अधिकार गद्य-युग ने ले लिया। इस काल में हिन्दी कविता भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की रचनाओं में साँस लेती रही। उसका दृष्टिकोण अब भी रीतिकालीन कृष्ण और राधा तक ही सीमित रहा। भाषा, भाव और शैली की दृष्टि से गद्ययुगीन काव्यधारा भी रीतिकालीन काव्य-धारा का अनुसरण करती रही। इस काल की रचनाओं में 'धर्म', 'ईश्वर' और 'राजा' कविता के प्रधान विषय रहे और सामाजिक सुधार इन रचनाओं का उद्देश्य बना। इस काव्यधारा के अन्तर्गत इस चरण को हम भारतेन्दु-युग कहते हैं, जिसमें प्रतापनारायण मिश्र, और जगमोहन सिंह आदि आते हैं। भारतेन्दु की रचनाओं में भारत की दुर्दशा पर

आँसू बहाये गए हैं, परन्तु उनमें सिसक है, विद्रोह नहीं; विवशता है, विरोध नहीं।

इसी विवशता के युग में महात्मा गाँधी का आविर्भाव हुआ और उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन का सूत्रपात कर सन् १९२० के लगभग हिन्दी काव्य-क्षेत्र में द्विवेदी-युग को जन्म देने का श्रेय प्राप्त किया। इस काल में हिन्दी कविता ने ब्रजभाषा को पूर्णतया छोड़ कर खड़ी बोली को अपनी भाषा बनाया। मैथिलीशरण गुप्त और अयोध्यासिंह उपाध्याय ने 'भारत भारती' तथा 'प्रियप्रवास' की रचना कर हिन्दी कविता में 'राष्ट्रीयता' और 'बौद्धिकता' को जन्म दिया। गुप्त जी ने भारत के अतीत वर्तमान और भविष्य को गाथायें गायीं तथा उपाध्याय जी ने कृष्ण को सामाजिक नेता का रूप देकर प्राचीन परम्पराओं को परिष्कृत किया। मानव में असाधारण गुणों का आरोप कर उन्होंने हिन्दी कविता में जनता की चित्तवृत्तियों का प्रतिनिधित्व किया। फिर भी गुप्त जी हरिगीतिका छन्द में लिख कर किसान मजदूर और मध्यम वर्ग में जो भाव पैदा कर सके वह भाव उपाध्याय जी संस्कृत छन्दों में पैदा नहीं कर सके। इस काव्य-धारा में रामनरेश त्रिपाठी, नाथूराम 'शंकर' शर्मा, रामचरित उपाध्याय, गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' और सत्यनारायण कविरत्न उल्लेखनीय हैं।

इसके बाद हिन्दी कविता में निराशावाद के भाव उत्पन्न हुए; क्योंकि भारतीय स्वतन्त्रता का आन्दोलन गाँधी जी के नेतृत्व में असफल हो गया था। साम्राज्यशाही दमन चक्र चला कर सामाजिक और आर्थिक रूप से देश की जनता को कुचल चुकी थी। इसी निराशावाद को लोग छायावाद के नाम से पुकारते हैं। इस पर योरोपीय 'प्रतीकवाद', सूफी 'प्रेमानुभूति' तथा संस्कृत काव्य की 'लाक्षणिकता' की गहरी छाप पड़ी। इसमें प्रकृति कविता का विषय बनी। इस काव्य-धारा के प्रमुख कवि 'प्रसाद', 'पन्त', 'महादेवी', और 'निराला' हैं। प्रसाद सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् के कलाकार हैं। पन्त सौन्दर्योपासक कवि हैं। महादेवी करुणा की गायिका हैं।

'निराला' करुणा और विद्रोह के गीतकार हैं। इस युग में हिन्दी कविता को भाषा की कोमलता और मधुरता प्राप्त हुई। सामन्तवादी तथा संकुचित विचारधाराओं का अन्त हो गया। कविता की विचारधाराएँ अनन्त और असीम की तरह व्यापक हो गईं। फिर भी कविता में सामाजिक और राजनैतिक प्रवृत्तियों का बहुत कम चित्रण हुआ।

१९३० के सविनय अवज्ञा-आन्दोलन के बाद छायावाद का निराशा का कुहरा छँटने लगता है। हिन्दी कवियों का ध्यान उत्तरोत्तर सामाजिक परिस्थितियों की ओर आकृष्ट होने लगता है। प्रकृति और कल्पना-लोक का निवासी कवि ठोस धरती पर आ खड़ा होता है। पहली बार वह शोषित, पीड़ित और अभावग्रस्त जनता की ओर आँखें उठा कर देखता और उसे अपने काव्य का विषय बनाता है। प्रकृति का गायक कवि पन्त 'पल्लव' से मुड़ कर 'युगान्त' के गीत गाता हुआ 'ग्राम्या' की ओर अग्रसर होता है। १९३० से १९४० तक की दशाब्दि ने जैसे हिन्दी कविता के समग्र विषय वस्तु को ही बदल दिया। अब कविता के क्षेत्र में प्रगतिवाद की हुंकार सुन पड़ने लगी। पन्त, भगवतीचरण वर्मा, नरेन्द्र शर्मा, 'दिनकर', शिवमंगल सिंह 'सुमन', अज्ञेय, गिरिजाकुमार माथुर आदि ने काव्य में नये-नये प्रयोग किये। हिन्दी कविता का क्षेत्र भारत तक ही सीमित न रहा। साम्यवाद और मार्क्सवाद का प्रभाव नये कवियों पर दृष्टिगोचर होने लगा। १९४१ से १९५० तक की दशाब्दि में यह नया प्रभाव बहुत ही अधिक स्पष्ट हो गया है और प्रगतिवाद के समर्थक कवियों की एक नयी पौध तैयार हो गई है, जिनमें सर्वश्री केदार, नागार्जुन आदि प्रमुख हैं।

१—चन्द बरदाई

चन्द बरदाई का कविता-काल लगभग १२२५ से १२४९ तक है। यह हिन्दी के सर्वप्रथम उल्लेखनीय ग्रन्थ 'पृथ्वीराज रासो' के रचयिता हैं। वे अन्तिम हिन्दू सम्राट् महाराज पृथ्वीराज चौहान के राजकवि, मित्र और सामन्त थे। उनका जन्म लाहौर में भट्ट जाति के जगात नामक गोत्र के ब्राह्मण परिवार में हुआ था। आप षड्भाषा, व्याकरण, काव्य, साहित्य, छन्द-शास्त्र, ज्योतिष, पुराण, नाटक आदि अनेक विद्याओं में पारगत थे। कहा जाता है कि महाराज पृथ्वीराज और इनका जन्म एक ही तिथि को हुआ था और मृत्यु भी एक ही तिथि को हुई।

'पृथ्वीराज रासो' ढाई हजार पृष्ठों का बृहद् ग्रन्थ है, जिसमें ६९ समय या अध्याय हैं। इसमें महाकाव्य के सभी गुण वर्तमान हैं। इसमें प्राचीन काल में प्रयुक्त प्रायः सभी छन्दों का व्यवहार हुआ है। मुख्य छन्द कवित्त (छप्पय), दूहा, तोमर, त्रोटक, गाथा और आर्या है। इसकी भाषा अपभ्रंश, राजस्थानी, ब्रज और खड़ी बोली के मिश्रण से बनी है।

वीर गाथा-काल के इस महान् ग्रन्थ की ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। कुछ इसे जाली मानते हैं और कुछ इसके कुछ अंश को प्रामाणिक मानकर शेष को क्षेपक ठहराते हैं।

महोबा-खंड

लोह लागि चहुँवान परे मूरछा ह्वै धरतिय।
उड़ गीधनि बैठि कै चुञ्च वाहैति विरतिय॥
देख्यो सज्जमराय नृपति दृग दाढ़िति पंछिन।
अपने तन को मास काटि भखु दियो ततच्छिन॥

अपनै सुनयन देख्यो नृपति अन्त समैं ध्रम पल्लियव।
आये विवान वैकुण्ठ के देह सहित धरि चल्लियत।।

दूहा

गोधनि कौं पल भखु दियौ, नृप कै नैन बचाय।
देह हँसत बैकुण्ठ को, पहुच्यो सञ्जमराय।।

दोहे

सरस काव्य रचना रचों, खलजन सुनिन हसंत।
जैसे सिंधुर देखि मग, स्वान सुभाव भुसन्त।।१।।
तो पनि सुजन निमित गुन, रचिये तन मन फूल।
जू का भय जिय जानिकै, क्यों डारिये दुकूल।।२।।
पूरन सकल विलास रस, सरस पुत्र फलदान।
अन्त होई सह गामिनो, नेह नारि को मान।।३।।
जस छीनो नागो गिनहु, ढक्यो जग जसवान।
लंपट हारै लोह छन, त्रिय जीतैं बिन बान।।४।।
समदरसी ते निकट है, भुगति मुगति भरपूर।
विषम दरस वा नरन तें, सदा सरबदा दूरि।।५।।
पर योषित परसै नहीं, ते जीते जग बीच।
परतिय तकत रैन दिन, ते हारे जग नीच।।६।।

दूहा

जीति भई प्रथिराज की, पकरि साह लै संग।
दिल्ली दिसि मारग लगौ, उतरि घाट गिरि गंग।।
वर गोरी पद्मावती, गहि गोरी सुरतान।
निकट नगर दिल्ली गये, चल भुजा चहुआन।।

कवित्त

वोलि विप्र सोधे लगन्न सुभ घरी परट्ठिय ।
हर बाँसह मंडप बनाय करि भाँवरि गंठिय ॥
ब्रह्म वेद उच्चरहिं होम चौरी जु प्रत्तिवर ।
पद्मावति दुलहिन दुल्लह प्रथिराज राजनर ॥
डण्ड्यो साह सहाबदी उट्ठ सहस हय वर सुवर ।
दै दान मान षट् भेष को चढ़े राज द्रुग्गा हुजर ॥

दूहा

चढ़े राज द्रुग्गह नृपति, सुमत राज प्रथिराज ।
अति आनन्द आनन्द सैं, हिन्दवान सिरताज ॥

२—विद्यापति ठाकुर

विद्यापति ठाकुर का रचनाकाल लगभग १४४५ से आरम्भ होता है। यह अपने सरस पदों के लिए विख्यात हैं। आपने अपभ्रंश और देश-भाषा दोनों ही में रचना की है। आपकी 'कीर्ति लता' और 'कीर्ति पताका' रचनाएँ अपभ्रंश के अन्तर्गत आती हैं। देशभाषा की दृष्टि से इन्होंने मैथिली भाषा में 'पदावली' की रचना की है। इस की सरसता के कारण इन्हें 'मैथिल कोकिल' कहा जाता है। गीति-काव्य लिखने के कारण आप अभिनव जयदेव भी कहलाते हैं।

विद्यापति के पदों में शृंगार रस की प्रधानता है और रीति-काल के कवियों की भाँति उनके नायक-नायिका राधाकृष्ण हैं। बिहारी ने जैसे घोर शृंगार के साथ कुछ भक्ति के दोहे लिखे हैं, वैसे ही विद्यापति ने भी कुछ भक्ति के पद लिखे हैं। इनके आधार पर कुछ लोग इन्हें भक्त मानते हैं, जो उचित नहीं है।

विद्यापति ने राधा-कृष्णसम्बन्धी सरस पदों के अतिरिक्त शिव सम्बन्धी कुछ नचारियां भी लिखी हैं। कवित्व की दृष्टि से उनके पद ही रसिकों के लिए कण्ठहार हैं। सरसता उनमें कूट कूट कर भरी है। चैतन्य तो उन्हें गाते गाते बेहोश हो जाते थे।

(१)

माधव कत तोर करब बड़ाइ ।
उपमा तोहर हम ककरा कहब कहितहुँ अधिक लजाइ ॥
जो श्रीखण्ड सौरभ अति दुर्लभ तौ पुनि काठ कठोर ।
जौ जगदीश निशाकर तौ पुन इकहि पक्ष इजोर ॥

ममि समान अओरो नहिं दूसर तनिकहुं पाकर नामे ।
कनक कदलि छोट लज्जित कै रहु की कहु ठामहि ठामे ।।
तोहर संरिस एक तोह माधव मन होइछ अनुमाने ।
सज्जन जन सों नेह कठिन धिक कवि विद्यापति भाने ।।

(२)

मधुपुर मोहन गेलरे मोरा विहरित छाति ।
गोपी सकल विसरलनि रे जत छिल अहिवाती ।।
सुतिल छलहुँ अपन गृह रे निन्दई गेलउ सपनाई ।
कर सों छुटल परसमनि रे कोन गेल अपनाई ।।
कत कहबो कत सुमिरव रे हम भरिय गराणी ।
आनक धन सों धनवन्ति रे कुवजा भेल राणी ।।
गोकुल चान चकोरल रे चोरी गेल चन्दा ।
विछुड़ि चललि दुहु जोड़ी रे जीव इह गेल धन्दा ।।
काक भाष निज भाखह रे पहु आओत कोरा ।
क्षीर खाँड़ भोजन देवरे भरि कनक कटोरा ।।
भनहिं विद्यापति गाओल रे धैरज धर नारी ।
गोकुल होयत सुहाओन फेरि मिलत मुरारी ।।

(३)

सरस बंसत समय भल पाओलि दछिन पवन वहुधीरे
सपनहु रूप वचन यक भाषिय मुख से दुरि करु चीरे ।।
तोहर वदन सम चाँद हो अथि नहिं जैयो जतन विह देला ।
कै बेरि काटि बनावल नव कै तैयो तुलित नहिं भेला ।।
लोचन तूअ कमल नहिं भैसक से जग के नहि जाने ।
से फिर जाय लुकैनह जल-भय पंकज निज अपमाने ।।
भनहि विद्यापति सुन वर जौवित ईसभ लछमि सामने ।
राजा शिवसिंह रूपनरायन लखिमा देई प्रतिभाने ।।

३—कबीरदास

महात्मा कबीरदास जी की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कई मत हैं। कहा जाता है कि इनका जन्म एक विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से हुआ था, जिसे महात्मा रामानन्द ने भूल से पुत्रवती होने का आशीर्वाद दे दिया था। वह विधवा लोक-लाज के डर से इन्हें काशी के लहरतारा तालाब के पास छोड़ गई थी, जहाँ से ये नीमा और नीरू जुलाहा दम्पति को मिल गए, जिन्होंने इनका पालन-पोषण किया। इनकी स्त्री का नाम लोई था। इनके कमाल और कमाली नाम के दो बच्चे भी थे।

कबीर अपने को रामानन्द जी का शिष्य मानते थे। कुछ लोगों का कहना है कि उन्होंने शेख तकी से भी दीक्षा ली थी।

कबीर की विधिवत् शिक्षा नहीं हुई थी। स्वभाव के ये अक्खड़ थे। इसलिए पण्डितों और मुल्लों का विरोध इन्हें खूब सहना पड़ा था। इनकी मृत्यु मगहर में हुई थी। इनका जन्म सम्वत् १४५५ और मृत्यु सम्वत् १५७५ माना जाता है।

कबीर एक भक्त थे। इन्होंने निर्गुण ब्रह्म को अपनी उपासना और प्रेम का विषय बनाया और योग को साधन के रूप में स्वीकार किया। इन्होंने अहिंसा को महत्व दिया और इसके लिए हिन्दू और मुसलमान दोनों की ही कड़ी आलोचना की है। धर्म के नाम पर ऊँच-नीच का भेद करने वालों को इन्होंने खूब खरी-खोटी सुनाई है। ये अन्धविश्वास के कड़े विरोधी थे और इसके विरुद्ध प्रचार करने में इन्होंने कोई कसर नहीं छोड़ी। इनका जीवन अत्यन्त सदाचारपूर्ण था। ये अपने सिद्धान्तों का दृढ़ता से पालन करते थे।

कबीर के ऊपर रामानन्द के अतिरिक्त शंकराचार्य, नाथपंथी साधुओं तथा सूफी फकीरों का विशेष प्रभाव था। रामानन्द से इन्होंने भक्ति-भावना, शंकराचार्य से मायावाद तथा अद्वैतवाद की विचारधारा, नाथपंथियों से हठयोग की साधना और सूफी फकीरों से प्रेम की पीर ग्रहण की थी। ये मूलतः वेदान्ती थे और जीव-ब्रह्म की एकता में पूर्ण विश्वास रखते थे। इसीलिए इनमें रहस्यवाद की मात्रा अधिक है। कबीर के रहस्यवाद में आत्मा को स्त्री और परमात्मा को पुरुष माना गया है।

कबीर की वाणी बीजक के नाम से प्रसिद्ध है और यह तीन भागों में विभक्त है——रमैनी, सबद और साखी। रमैनी और सबद गाने के पद हैं और साखी दोहों में है।

कबीर ने पिंगल और अलंकार का आधार लेकर कविता नहीं लिखी। कविता उनके विचारों के प्रकाशन का माध्यम है और उसमें अनुभूति की तीव्रता इतनी अधिक है कि वे सरलता से महाकवि कहे जा सकते हैं। सच्ची और खरी बात कहनेवाला कहने के ढंग को नहीं देखता, यह कबीर की कविता के कला-पक्ष से प्रकट है। उनके दोहों तक में छन्द-शास्त्र की भूलें हैं, पर इससे उनके प्रभाव में तनिक कमी नहीं आई।

कबीर की कविता की भाषा ब्रज, राजस्थानी, पंजाबी, अवधी, खड़ी बोली, अरबी, फारसी आदि से मिलकर बनी हुई सधुक्कड़ी भाषा है, परन्तु इनके पदों में ब्रजभाषा और पूर्वी हिन्दी के पुराने रूप को ही स्थान मिला है।

कबीर की कविता में अत्यन्त सरलता, सच्चाई और सादगी है। अपने उत्कट सत्य-प्रेम के कारण कभी-कभी ये कठोर आलोचक के रूप में भी उपस्थित होते हैं, परन्तु फिर भी इनकी सरलता सर्वत्र व्याप्त है।

कबीर एक बड़े कवि ही नहीं थे, ये एक बड़े भक्त और समाज-सुधारक भी थे।

कबीरदास

(साखी)

गुरु कीजै दंडवत, कोटि कोटि परनाम ।
कीट न जानै भृंग को, गुरु करि आप समान ॥१॥

लाली मेरे लाल की, जित देखूं तित लाल ।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल ॥२॥

हंसा बकयक रंग लखिय, चरैं एक ही ताल ।
छीर-नीर ते जानिये, बक उघरै तेहि काल ॥३॥

मन के हारे हार है, मन के जीते जीत ।
कह कबीर ज्यो पाइये, मन ही की परतीत ॥४॥

एकै साधे सब सधे, सब साधे सब जाइ ।
जो तू सेवे मूल को, फूले फलैं अघाइ ॥५॥

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय ।
एकै आखर प्रेम का, पढ़े सो पंडित होय ॥६॥

जो आवे तो जाय नहिं, जाय तो आवैं नाहिं ।
अकथ कहानी प्रेम की, समुझ लेहु मनमाहिं ॥७॥

ऐसा कोई ना मिला, सत्त नाम का मीत ।
तन मन सौंपे मिरग ज्यों, सुनै बधिक का गीत ॥८॥

माटी कहै कुम्हार को, तू क्या रूँदै मोहिं ।
एक दिन ऐसा होइगा, मैं रूदूंगी तोहिं ॥९॥

पपीहा पन को ना तजै, तजै तो तन बेकाज ।
तन छूटे तो कछु नहीं, पन छूटे ते लाज ॥१०॥

कांकर पाथर जोरि कै, मसजिद लई बनाइ ।
ता चढ़ि मुल्ला बांगि दे, क्या बहिरा हुआ खुदाय ॥११॥

तत्व तिलक माथे दिया, सुरति सरवनी कान ।
करनी कंठी कंठ में, परसा पद निर्वान ।।१२।।
आगि लगी आकास में, झरि झरि परै अंगार ।
कबिरा जरि कंचन भया, कांच भया संसार ।।१३।।
मन मुरीद संसार है, गुरु मुरीद कोई साधु ।
जो माने गुरु वचन को, ताको मता अगाधु ।।१४।।

पद

(१)

माया महा ठगनि हम जानी ।
तिरगुन फांस लिये कर डोलै बोलै मधुरी बानी ।।
केशव के कमला ह्वै बैठी शिव के भवन भवानी ।
पंडा के मूरत ह्वै बैठी, तीरथ में भई पानी ।।
योगी के योगिन ह्व बैठी, राजा के घर रानी ।
काहू के हीरा ह्वै बैठी, काहू के कौड़ी कानी ।।
भक्तन के भक्तिन ह्व बैठी, ब्रह्म के ब्रह्मानी ।
कहै कबीर सुनौ भई सन्तो, यह सब अकथ कहानी ।।

(२)

करम गति टारे नाहिं टरी ।
मुनि वसिष्ठ से पंडित ज्ञानी सोधि के लगन धरी ।
सीता-हरन, मरन दसरथ को बन में बिपति परी ।।
कहँ वह फन्द कहाँ वह पारिध कहँ वह मिरग चरी ।
नीच हाथ हरचंद बिकाने बलि पाताल धरी ।।
कोटि गाय नित पुन्न करत नृप गिरगिट जोनि परी ।।
पांडव जिनके आप सारथी तिन पर बिपति परी ।
दुरजोधन को गरव घटायो जदुकुल नास करी ।।

राहु केतु और भानु चन्द्रमा विधि-संयोग वरी।
कहत कबीर सुनो भई साधो होनी होके रही॥

(३)

रमैया की दुलहिन लूटा बजार।
सुरपुर लूट नागपुर लूटा, तीन लोक मचा हाहाकार।
ब्रह्मा लूटे महादेव लूटे, नारद मुनि के परी पछार॥
श्रृंगी की भृंगी कर डारी, पारासर के उदर विदार।
कनफूंका चिरकासी लूटे, लूटे जोगेसर करत विचार॥
हम तो बचिगे साहब दया से शब्द-डोर गहि उतारे पार।
कहत कबीर सुनो भई साधो इस ठगनी से रहो हुसियार॥

(४)

घूंघट का पट खोले रे, तोहे पीव मिलेंगे।
घट घट में वह साईं रमता, कटुक बचन मत बोल रे।
धन जोबन को गरब न कीजै, झूठा पचरंग चोल रे॥
सुन्न महल में दियना बारि ले, आसन सों मत डोल रे।
जोग-जुगत सों रंग-महल में, पिय पायो अनमोल रे॥
कहैं कबीर अनन्द भयो है, बाजत अनहद ढोल रे॥

(५)

झीनी झीनी बीनी चदरिया।
काहे के ताना काहे के भरनी, कौन तार से बीनी चदरिया।
इंगला पिंगला ताना-भरनी, सुखमन तार से बीनी चदरिया।
आठ कंवल दल चरखा डोलै, पांच तत्व गुन तीनी चदरिया।
साईं को सियत मास दस लागे, ठोक ठोक के बीनी चदरिया।
सो चादर सुर नर मुनि ओढ़े, ओढ़ि के मैली कीनी चदरिया।
दास कबीर जतन से ओढ़ी, ज्यों की त्यों धरि दीनी चदरिया।

(६)

कौनो ठगवा नगरिया लूटल हो ।
चंदन-काठ से बनल खटोलना तापर दुलहिन सूतल हो ।
उठो री सखी मेरी मांग संवारो दुलहा मोसे रूसल हो ।
आये जमराज पलंग चढ़ि बैठे, नैनन आँसू टूटल हो ।
चारि जने मिल खाट उठाइन, चहुँदिसि धू-धू ऊठल हो,
कहत कबीर सुनो भाई साधो जग से नाता छूटल हो ।

(७)

काहें री नलिनी तू कुम्हिलानी, तेरे ही नाल सरोवर पानी ।
जल में उतपति जल में वास, जल मे नलिनी तोर निवास ।।
ना तल तपति न ऊपर आग, तोर हेतु कहु केसनि लाग ।
कहे 'कबीर' जे उदिक समान, ते नहीं मुए हमारे जान ।।

४—सूरदास

सूरदास के जीवन-वृत्तान्त के विषय में बहुत कम ज्ञात है। "चौरासी वैष्णवों की वार्ता" के आधार पर सूरदास सारस्वत ब्राह्मण माने जाते हैं। नका जन्म सम्वत् १५४० के आस-पास तथा जन्म-स्थान रुनकता (रेणुका क्षेत्र) माना जाता है।

सूरदासजी प्रज्ञा-चक्षु थे। कुछ लोग इनका जन्मान्ध होना सिद्ध करते हैं, और कुछ इनको जन्मान्ध न मान युवावस्था में अन्धा हुआ मानते हैं। सूरदास की कविता में शृंगार तथा बालक्रीड़ाओं का जितना सूक्ष्म और सुन्दर वर्णन हुआ है, उसे देख कर पिछला मत कहीं अधिक ठीक प्रतीत होता है। "चौरासी वैष्णवों की वार्ता" के अनुसार सूरदास की मृत्यु सम्वत् १६२० में पारसोली नामक ग्राम में हुई थी।

सूरदासजी के लिखे १६ ग्रन्थ कहे जाते हैं, परन्तु इनमें प्रामाणिक तो ३ ग्रन्थ ही माने गए हैं। वे हैं १. सूरसागर, २. साहित्य लहरी, ३. सूर-सारावली।

वल्लभाचार्य जी के शिष्यत्व में आने के अनन्तर इन्होंने आचार्य जी के अनुरोध से श्रीमद्भागवत की कथाओं को गाने योग्य पदों में लिखना प्रारम्भ किया। सूरसागर में इन्हीं पदों का संग्रह है। कहा जाता है कि 'सूरसागर' में कुल सवा लाख पदों का संग्रह है, परन्तु इस समय, 'सूरसागर' की जो प्रतियाँ उपलब्ध हैं, उनमें चार या पाँच हजार से अधिक पद नहीं मिलते। सूरसागर' के इतने पद ही सूरदास की उत्कृष्टता को प्रमाणित करने के लए पर्याप्त हैं।

सूरदास मुख्य रूप से वात्सल्य और शृंगार रस के कवि हैं। इन दो

क्षेत्रों में उनकी समता कोई नहीं कर सकता। बाल-लीलाओं के वर्णन में सूरदास न केवल हिन्दी साहित्य अपितु विश्व साहित्य में बेजोड़ है।

सूरदास ने शृंगार रस के दोनों ही पक्षों—संयोग और वियोग का बड़ा ही सुन्दर और विशद चित्रण किया है। संयोग की अपेक्षा वियोग का वर्णन कहीं अधिक मार्मिक बन पड़ा है। उनका 'भ्रमर-गीत' वियोग शृंगार का उत्कृष्ट उदाहरण है। उसमें सगुण और निर्गुण के विवाद में गोपियों के भावुक हृदय से जो व्यंगमयी उक्तियाँ निकली है, वे बड़ी सजीव हैं। वियोग शृंगार की जितनी अन्तर्दशाएँ हो सकती है, और जिन विभिन्न शैलियों से इन दशाओं का साहित्य में वर्णन किया जा सकता है, वे सभी सूर के वियोग-शृंगार में विद्यमान हैं।

सूर की भाषा साहित्यिक ब्रजभाषा है। उसमें भाषा का बड़ा ही सरल और व्यावहारिक रूप है। सूर की शब्द-योजना इतनी अच्छी है कि उसमें माधुर्य-गुण का स्वतः समावेश हो गया है। ठेठ ब्रज के शब्दों और मुहावरों ने सूर की ब्रजभाषा को शक्तिशाली बना दिया है। संगीत तो सूर की भाषा में माला के धागे की भाँति व्याप्त है। व्यंग और विनोद तथा चित्रमयता उनकी भाषा के अन्य गुण हैं। सूर का काव्य-शास्त्र का ज्ञान भी बहुत बढ़ा-चढ़ा था। उनके समान अलंकारों का प्रयोग साहित्य में अन्यत्र बहुत कम हुआ है।

(१)

सोभित कर नवनीत लिये।
घुटुरुवन चलत रेनु तन मंडित मुख में लेप किये ॥
चारु कपोल लोल लोचन छवि गौरोचन को तिलक दिये।
लर लटकन मानो मत्त मधुप गन माधुरी मधुर पिये ॥
कठुला कंठ वज्र केहरि नख राजत है सखि रुचिर हिये।
धन्य 'सूर' एकौ पल यह सुख कहा भयो सत कल्प जिये ॥

(२)

लालन हौं वारी तेरे या मुख ऊपर ।
माई मेरिहि डीठि न लागे तातें मसि बिंदा दयो भ्रूपर ।।
सर्बसु मैं पहिले ही दीनी नान्हीं नान्हीं दंतुली दू पर ।
अब कहा करों निछावरि 'सूर' यशोमति अपने लालन ऊपर ।।

(३)

गहे अंगुरियाँ तात की नंद चलन सिखावत ।
अरबराइ गिरि परत हैं कर टेकि उठावत ।।
बार बार बकि श्याम सों कछु बोल बकावत ।
दुहुँधा दोउ दंतुली भई अति मुख छवि पावत ।।
कबहुँ कान्ह कर छाँड़ि नन्द पग द्वै करि धावत ।
कबहुँ धरणि पर बैठि के मन मँह कछु गावत ।।
कबहुँ उलनि चलें धाम को घुटरुन करि धावत ।
'सूर' श्याम मुख देखि महर मन हर्ष बढ़ावत ।।

(४)

मैया कबहि बढ़ेगी चोटी ।
किती बार मोहिं दूध पियत भइ यह अजहूँ है छोटी ।।
तू जो कहति बल की बेनी ज्यों ह्वै है लाँबी मोटी ।
काढ़त गुहत नहावत ओछत नागिन सी भ्वै लोटी ।।
काचो दूध पियावत पचि पचि देत न माखन रोटी ।
'सूर' श्याम चिरजीवो दोऊ भैया हरि हलधर की जोटी ।।

(५)

जेंवत श्याम नन्द की कनियाँ ।
कछुक खात कछु धरति गिरावत छन निरखत नन्दरनियाँ ।।
बरी बरा बेसन बहु भाँतिन व्यंजन विविध अनगनियाँ ।
डारत खात लेत अपने कर रुचि माँगत दधि दनियाँ ।।

मिश्री दधि माखन मिश्रित करि मुख नावत छकि धनियाँ।
आपुन खात नन्द मुख नावत सो मुख कहत न बनियाँ ॥
जो रस नन्द यशोदा बिलसत सो नहिं तिहूँ भुवनियाँ।
भोजन करि नन्द अंचवन कियो मांगत "सूर" जुठनियाँ।

(६)

नैन सलोने श्याम, हरि कब आवहिंगे ।
वे जो देखत राते राते फूलन फूले डार ।
हरि बिन फूल झरी सी लागत झरि झरि परस अंगार ॥
फूल बिनन ना जाऊं सखी री हरि बिन कैसे फूल ।
सुन री सखी मोहि राम दुहाई लागत फूल त्रिशूल ॥
जब ते पनिघट जाऊं सखी री वा जमुना के तीर ।
भरि भरि यमुना उमड़ि चलत है इन नैनन के नीर ॥
इन नैनन के नीर सखी री सेज भई घरनाव ।
चाहत हौं ताही पैं चढ़ि के हरि जी के ढिग जांव ॥
लाल पियारे प्रान हमारे रहे अधर पर आय ।
'सूरदास' प्रभु कुंजबिहारी मिलत नहीं क्यों धाय ॥

(७)

प्रीति करि काहू सुख न लह्यो ।
प्रीति पतंग करी दीपक सों आपै प्रान दह्यो ॥
अलिसुत प्रीति करी जलसुत सों संपति हाथ गह्यो ।
सारंग प्रीति करी जो नाद सों सन्मुख बाण सह्यो ॥
हम जो प्रीत करी माधव सों चलत न कछु कह्यो ।
'सूरदास' प्रभु बिन दुख दूनो नैनन नीर बह्यो ॥

(८)

मधुकर हम न होहिं वे बेली।
जिन भजि तजि तुम फिरत और रंग करत कुसुम रस केली ॥

वारे ते वर बाजि बढ़ी है अरु पोषी पिय पानी ।
बिनु पिय परस प्रात उठि फूलत होत सदा हित हानी ॥
है बेली बिरहा वृन्दावन उरझी श्याम तमाल ।
पुहुप वास रस रसिक हमारे विलसत मधुप गोपाल ॥
योग समीर धीर नहिं डोलत रूप डार ढिग लागी ।
'सूर' परागनि तजनि हिये तें श्री गुपाल अनुरागी ॥

(९)

ऊधो अखियाँ अति अनुरागी ।
इकटक मग जोवित अरु रोवति भूलेहु पलक न लागी ॥
बिन पावस पावस ऋतु आई देखत है विदमान ।
अब धौं कहा कियो चाहत है छाड़हु निर्गुन ज्ञान ॥
सुनि प्रिय सखा श्यामसुन्दर के जानत सकल सुभाई ।
जैसे मिलै सूर के स्वामी तैसे करहु उपाई ॥

(१०)

ऊधो जोग जोग हम नाहीं ।
अबला सार ज्ञान कहा जानें कैसे ध्यान धराहीं ॥
ते ये मूदन नैन कहत हैं हरि मूरति जा मांहीं ।
ऐसी कथा कपट की मधुकर हमतें सुनी न जाहीं ॥
स्रवन चीर अरु जटा बंधावहु ये दुख कौन समाहीं ।
चंदन तजि अँग भस्म बतावत विरह अनल अति दाहीं ॥
जोगी भरमत जेहि लगि भूले सो तो है अपु माहीं ।
'सूरदास' ते न्यारे न पल छिन ज्यों घट ते परछाहीं ॥

(११)

मधुकर इतनी कहियहु जाइ ।
अति कृषगात भई ये तुम बिन परम दुखारी गाय ॥
जल समूह बरसत दोउ आँखें हूकति लीन्हें नाउँ ।

जहाँ जहाँ गोदोहन कीनों सूंघति साई ठाउँ ॥
परति पछार खाइ छिनहीं छिन अति आतुर ह्वै दीन ।
मानहु 'सूर' काढ़ि डारी है बारि मध्य ते मीन ॥

(१२)

कहाँ लौ कहिये ब्रज की बात ।
सुनहु श्याम तुम दिन उन लोगन जैसे दिवस बिहात ।
गोपी गाइ ग्वाल गोसुत वैं मलिनबदन कृशगात ।
परम दीन जनु शिशिर हिमी-हत अंबुज गत बिन पात ॥
जाकहुँ आवत देखि दूरतें सब पूछति कुशलात ।
चलन न देत प्रेम-आतुर उर कर चरनन लपटात ॥
पिक-चातक बन बसत न पावहिं बायस बलिहि न खात ।
'सूर' श्याम संदेशन के डर पथिक न उहि मग जात ॥

(१३)

ऊधौ मोहि ब्रज बिसरत नाहीं ।
वृन्दाबन गोकुल तन आवत सघन तृनन की छाहीं ॥
प्रात समय माता जसुमति अरु नन्द देख सुख पावत ।
माखन रोटी दह्यो सजायो अति हित साथ खवावत ॥
गोपी ग्वाल बाल संग खेलत सब दिन हँसत खिरात ।
'सूरदास' धनि धनि ब्रजवासी जिन सों हँसत ब्रजनाथ ॥

(१४)

हरि बिन कौन दरिद्र हरै ।
कहत सुदामा सुन सुन्दरि जिय मिलन न हरि बिसरै ॥
और मित्र ऐसे समया महँ कत पहिचान करै ।
विपति परे कुशलात न बूझै बात नहीं उचरै ॥
उठि के मिलि तन्दुल हम दीन्हें मोहन बयन फुरै ।
'सूरदास' स्वामी की महिमा टारी विधि न टरै ॥

(१५)

नैना भये अनाथ हमारे
मदन गोपाल वहाँ ते सजनी सुनियत दूर सिधारे ॥
वे जल-सर हम मीन बापुरी कैसे जिवहिं निनारे ।
हम चातक-चकोर श्यामघन बदन सुधानिधि प्यारे ॥
मधुबन बसत आस दरसन की जोइ नैन मग हारे ।
सूरज श्याम करी पिय ऐसी मृतकहु ते पुनि मारे ॥

(१६)

सबै दिन गये विषय के हेत ।
तीनौ पन ऐसे ही बीते केस भये सिर सेत ॥
आँखिन अन्ध स्रवन नहिं सुनियत थाके चरन समेत ।
गंगा-जल तजि पियत कूपजल हरि तजि पूजत प्रेत ॥
राम-नाम बिन क्यों छुटेगे चन्द्र गहे ज्यों केत ।
'सूरदास' कछु खर्च न लागत रामनाम मुख लेत ॥

(१७)

प्रभु मोरे अवगुन चित न धरो ।
समदरसी है नाम तिहारो चाहे तो पार करो ॥
इक नदिया इक नार कहावत मैलोहि नीर भरो ।
जब दोनों मिल एक बरन भये सुरसरि नाम परो ॥
इक लोहा पूजा में राखत इक घर बधिक परो ।
पारस गुन अवगुन नहिं चितवै कंचन करत खरो ॥
यह माया भ्रम-जाल कहावै 'सूरदास' सगरो ।
अबकी बार मोहि पार उतारो नहिं प्रन जात टरो ॥

५--मलिक मुहम्मद जायसी

मलिक मुहम्मद जायसी प्रसिद्ध सूफी फकीर शेख मुहीउद्दीन के शिष्य थे। जन्म गाजीपुर में होना बताया जाता है, जहाँ से आकर वे जायस (रायबरेली) में बस गए थे। जायस के कारण ही उनका नाम जायसी पड़ा था। अपने समय के सूफी सन्तों में इनका बड़ा श्रेष्ठ स्थान था।

इनकी तीन रचनाएँ प्राप्त हैं—'पद्मावत', 'अखरावत' और 'आखिरी कलाम'। 'अखरावत' में वर्णमाला के एक-एक अक्षर से आरंभ कर के तत्वज्ञानपूर्ण चौपाइयाँ लिखी हैं। जिनमें जीव, ईश्वर और सृष्टि का विवेचन है। 'आखिरी कलाम' में प्रलय का वर्णन है। 'पद्मावत' इनकी प्रसिद्ध रचना है और यही इनका कीर्ति-स्तम्भ है। इसकी रचना ९४७ हिजरी, सम्वत् १५५७ में हुई थी।

जायसी का 'पद्मावत' 'रामचरितमानस' के बाद हिन्दी का दूसरा श्रेष्ठ प्रबन्ध-काव्य है। प्रेमगाथाओं में तो उसका स्थान सर्वोपरि है। इस ग्रन्थ में सूफी सिद्धान्तों का सरल और मनोरंजक निरूपण है। इससे जायसी की धार्मिक सहिष्णुता भी प्रकट होती है, क्योंकि उन्होंने मुसलमान होते हुए भी अपनी कथा में हिन्दू धर्म की प्रधान बातों को गम्भीर रूप में स्थान दिया है। संयोग और वियोग शृंगार दोनों का ही वर्णन जायसी ने अत्यन्त सुन्दर किया है। विरह का वर्णन तो हिन्दी साहित्य में अद्वितीय है।

इनकी रचना में वेदान्त, हठयोग, रसायन आदि हिन्दू धर्म की बातों का समावेश है, जिससे जान पड़ता है कि वे बहुश्रुत थे। इन्द्र का निवास कैलाश पर बताना या चन्द्रमा को स्त्री कहना उनके हिन्दू-सिद्धान्तों के अधूरे ज्ञान का प्रमाण है, परन्तु फिर भी उनका ज्ञान सराहनीय है।

पद्मावत का सती होना

नागमती पद्मावत रानी । दोउ महासत सती बखानी ।।
दोउ सौत चढ़ खाट जो बैठी । औ शिवलोक परा तहँ दीठी ।।
बैठे कोई राज औ पाटा । अन्त सबै बैठे पुनि खाटा ।।
चन्दन अगर काढ़सर साजा । और गति देय चले लै राजा ।।
बाजन बाजहि होय अगोता । दोउ कन्त लै चाहै सोता ।।
एक जो बाजा भयो बिवाहू । अब दुसरे है और निबाहू ।।
जियत जलै जौ कन्त की आसा । मुये रहस बैठे इक पासा ।।

आज सूर दिन अथयो, आज रयनि शशि बूड़ ।
आज नाथ जिय दीजिये, आज अगिन हम जूड़ ।।

सर रच दान पुण्य बहु कीन्हा । सात बार फिर भाँवर लीन्हा ।।
एक जो भाँवर भयो बियाही । अब दूसर है गोहन जाही ।।
जियत कन्त तुम हम गल लाई । मुये कण्ठ नहिं छाड़हु साई ।।
लै सर ऊपर खाट बिछाई । पौढ़ी दोउ कन्त गल लाई ।।
और जो गाँठ कन्त तुम जोरी । आदि अन्त लहि जाय न छोरी ।।
यह जग काह जो अथहिन पाथी । हम तुम नाह दोहू जग साथी ।।
लागी कण्ठ अंग दै होरी । छार भई जर अंग न मोरी ।।

राती पिय के नेह की, स्वर्ग भयो रतनार ।
जो रे उवा सो अथवा, रहा न कोई संसार ।।

वै सहगवन भई जिय आई । बादशाह गढ़ छेंका धाई ।।
तब लग सो अवसर है बीता । भये अलोप राम औ सीता ।।
आयशाह जो सुना अखारा । है गइ रात दिवस उँजियारा ।।
आप उठाय लीन इक मूठी । दीन्ह उड़ाय विरथवो झूठी ।।
सगेर कटक उठाई माटी । पुल बाँधा जहँ जहँ गढ़ घाटी ।।

जौ लहि उपर छार नहि परै। तौ लहि यह तृष्ण नहि मरै ॥
भा दहवा भा जूझ असूझा। बादल आय दँवर पर जूझा ॥

जून्हर भईं सब इस्त्री, पुरुष भये संग्राम ।
बादशाह गढ़ चूरा, चित्तौर भा इसलाम ॥

मैं यह अर्थ पण्डितन बूझा। कहा कि हम कुछ और न सूझा ॥
चौदह भुवन जोहत उपराही। सो सब मानुष के घट माहीं ॥
तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंहल बुधि पद्मिनि चीन्हा ॥
गुरु सुवा जेहि पंथ दिखावा। बिन गुरु जगत सो निर्गुन पावा ॥
नागमती यह दुनिया धन्धा। बांचा सोई न यह चित्त बन्धा ॥
राघव दूत सोई शैतानू। माया अलाउदीन सुलतानू ॥
प्रेम कथा यह भाँति विचारू। बूझ लेहु जो बूझहि पारू ॥

तुरकी अरबी हिन्दी, भाषा जेती आहि ।
जामें मारग प्रेम का, सबै सराहै ताहि ॥

मुहमद कवि यह जोर सुनावा। सुना सो प्रेम पीर का पावा ॥
जोरे लाद रक्त ले गये।। प्रेम प्रीति नयनहिं जलभये ॥
औ मैं जान गीत अस कीन्हा। की यह रीति जगत महँ चीन्हा ॥
कहाँ सो रतनसेन अब राजा। कहाँ सुवा अस बुध उपराजा ॥
कहाँ अलाउदीन सुलतानू। कहँ राघव जेहि कीन्ह बखानू ॥
कहँ सुरूप पद्मावती रानी। कुछ न रही जग रही कहानी ॥
धन सोई यह कीरति तासू। फूल मरै पर मरै न बासू ॥

कौन जगत जश बेचा, कौन लीन जश मोल ।
जो यह पढ़ैं कहानी, हम सँवरै दोउ बोल ॥

मुहमद वृद्ध बैस जो भई। यौवन हम सो अवस्था गई ॥
बल जो गयो कै खीन शरीरू। दृष्टि गई नयनहिं दै नीरू ॥

दसन गये कै बचा कपोला। बैन गये अनरुच दै बोला ।।
बुधि जो गई दै हिय बौराई। गर्व गयो तरिहत शिर नाई ।।
श्रवण गये ऊँच जो सूना । स्याही गये सीस भा धूना ।।
भँवर गये केसहिं दे भुवा । यौवन गयो जीत ले जुवा ।।
जो लहि जीवन जोवन साथा। पुनि सो मीच पराये हाथा ।।

६—मीराबाई

मीराबाई का जन्म सम्वत् १५७३ में चौकड़ी नामक ग्राम में हुआ। यह मेड़तिया के राठौर रत्नसिंह की पुत्री थीं। इनका विवाह चित्तौर के राना साँगा के पुत्र भोजराज के साथ हुआ था। यह बचपन ही से कृष्ण-भक्ति में लीन रहा करती थीं। विवाह के कुछ वर्षों बाद यह विधवा हो गईं। यह प्रायः मन्दिरों में जाकर संतों के बीच श्रीकृष्ण की मूर्ति के सामने गाती और नाचती थीं। इनके इस व्यवहार से राजकुल के लोग इनसे रुष्ट रहा करते थे। कहा जाता है कि इन्हें मार डालने के विचार से इन्हें विष तक दिया गया, पर मीरा साफ-साफ बच गईं।

मीरा के बनाये हुए चार ग्रन्थ कहे जाते हैं (१) 'नरसी जी का मायरा', (२) 'गीत-गोविन्द टीका', (३) 'राग गोविन्द' और (४) 'राग सोरठ' के पद।

मीरा की उपासना माधुर्य-भाव की थी। यह अपने इष्ट देव को पति-रूप में मानती थीं। इनकी उपासना में रहस्य का समावेश है।

गीति-काव्य की दृष्टि से मीरा की कविता आदर्श है। इनके पदों में नारी-हृदय के कोमल भावों की छटा है। विरह और आत्म-निवेदन की प्रधानता होने पर भी इनकी कविता में अश्लीलता का नाम तक नहीं है। मीरा के गीत हृदय से निकले हैं, अतः उनमें पवित्र प्रेम की झलक पद-पद पर मिलती है। ईश्वर-वियोग-जनित वेदना इनके गीतों का मुख्य विषय है।

मीरा की रचना राजस्थानीमिश्रित ब्रजभाषा में है। इनकी मृत्यु सं० १६०३ में द्वारका जी में हुई।

(१)

हेरी मैं तो प्रेम दिवाणी, मेरा दरद न जाणे कोय ।
सूली ऊपर सेज हमारी, किस विध सोणा होय ।।
गगन मंडल पै सेज पिया की, किस विध मिलणा होय ।
घायल की गति घायल जानै, की जिन लाई होय ।।
जौहरी की गति जौहरी जानै, की जिन जौहर होय ।
दरद की मारी बन बन डोलूं, बैद मिल्या नहिं कोय ।।
'मीरा' की प्रभु पीर मिटैगी, जब बैद सँवलिया होय ।

(२)

पायो जी, मैंने राम रतन धन पायो ।
वस्तु अमोलक दी मेरे सतगुरु, किरपा कर अपनायो ।।
जनम जनम की पूंजी पाई, जग में सभी खोवायो ।
खरचै नहिं कोई चोर न लेवे, दिन दिन बढ़त सवायो ।।
सत की नाव खेवटिया सतगुरु, भव-सागर तर आयो ।
'मीरा' के प्रभु गिरधर नागर, हरख हरख जस गायो ।।

(३)

बसो मेरे नैनन में नन्दलाल ।
मोहनी मूरति सावरी सूरति नैना बने बिसाल ।।
अधर-सुधा-रस मुरली राजति उर बैजन्ती माल ।
छुद्रघंटिका कटि-तट सोभित नूपुर-शब्द रसाल ।।
'मीरा' प्रभु संतन सुखदाई भक्त-बछल गोपाल ।

(४)

करम गत टारे नाहिं टरे ।
सतबादी हरिचंद से राजा, नीच घर नीर भरे ।।
पांच पांडु अरु कुंती द्रोपदी, हाड़ हिमालय गरे ।

जग्य किया बलि लेण इन्द्रासन, सो पाताल धरे ।।
'मीरा' के प्रभु गिरधर नागर, विष से अमृत करे ।

(५)

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई ।
दूसरा न कोई साधो सकल लोक जोई ।।
भाई छोड्या बंधु छोड्या छोड्या सगा सोई ।
साध संग बैठ बैठ लोक-लाज खोई ।।
भगत देख राजी हुई जगत देख रोई ।
अँसुवन जल सींच सींच प्रेम बेल बोई ।।
दधि मथ घृत काढ़ लियो डार दई छोई ।
राणा विष को प्यालो भेज्यो पीय मगन होई ।।
अब तो बात फैल पड़ी जाणे सब कोई ।
'मीरा' राम लगण लागी होणी होय सो होई ।।

(६)

मीरा मगन भई हरि के गुण गाय ।
साँप पिटारा राणा भेज्या मीरा हाथ दियो जाय ।
न्हाय धोय जब देखण लागी सालिगराम गई पाय ।।
जहर का प्याला राणा भेज्या अमृत दीन्ह बनाय ।
न्हाय धोय जब पीवण लागी हो अमर अँचाय ।।
सूल सेज राणा ने भेजी दीज्यो मीरा सुलाय ।
साँझ भई मीरा सोवण लगी मानो फूल बिछाय ।।
'मीरा' के प्रभु सदा सहाई राखे बिघन हटाय ।
भजन-भाव में मस्त डोलती गिरधर पै बलि जाय ।।

(७)

सखी, मोरी नींद नसानी हो ।
पिय को पंथ निहारत सिगरी रैन बिहानी हो ।।

सब सखियन मिलि सीख दई, मन एक न मानी हो ।
बिन देख्यां कल नाहिं पड़त, जिय ऐसी ठानी हो ।।
अंगि अंगि व्याकुल भई, मुख पिय पिय बानी हो ।
अन्तर वेदन बिरह की, वह पीर न जानी हो ।।
ज्यों चातक घन कूं रटै, मछरी जिमि पानी हो ।
'मीरा' आकुल बिरहिणी, सुध-बुध बिसरानी हो ।।

(८)

नैणा लोभी रे बहुरि सके नहि आइ ।
रूँम-रूँम नख सिख सब निरखत ललकि रहे ललचाइ ।।
मैं ठाढ़ी गृह आपणे री, मोहन निकसे आइ ।
बदन चन्द पर भासत हेली, मन्द मन्द मुसकाइ ।।
लोक कुटुम्बी बरजि बरजहीं बतियाँ कहत बनाइ ।
चंचला निपट अटक नहिं मानत, परहथ गये बिकाइ ।।
भली कहौ, कोई बुरी कहौ, मैं सब लई सीस चढ़ाइ ।
'मीरा' कहे प्रभु गिरिधर के बिनि पलभर रह्यो न जाय ।।

७—तुलसीदास

हिन्दी काव्य शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास का कविता-काल सं० १६३१ से १६८० तक माना जाता है।

हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में रामभक्ति का उज्जवल प्रकाश फैलाने का श्रेय गोस्वामी तुलसीदासजी को ही है। गोस्वामीजी जैसे उच्चकोटि के सन्त थे वैसे ही उच्चकोटि के प्रतिभा सम्पन्न कवि। यह उनकी प्रतिभा का चमत्कार ही है, जो अपने समय की सभी प्रचलित पद्धतियों में इन्होंने अपनी रचना की और आज इनकी रचना हिन्दी साहित्य की सब से अधिक मूल्यवान् सम्पत्ति बनी हुई है।

गोस्वामीजी के जन्मकाल के सम्बन्ध में मतभेद है, परन्तु ग्रियर्सन के अनुसार यह सम्वत् १५८९ है, जो ठीक जान पड़ता है। इनके दीक्षा-गुरू बाबा नरहरिदास और कविता-गुरु शेष सनातन जी थे। परन्तु जैसा कि कहा जाता है, इनको विरक्त बनानेवाली स्वयं इनकी स्त्री थीं। विरक्त होकर गोस्वामीजी तीर्थ-यात्रा के लिए निकल पड़े और अन्त में अयोध्या आकर सम्वत् १६३१ में 'रामचरितमानस' लिखना आरम्भ किया। इसका कुछ अंश काशी में भी पूरा किया गया। मानस समाप्त कर के गोस्वामीजी काशी में ही रहने लगे।

तुलसीदासजी का ब्रज और अवधी दोनों भाषाओं पर समान अधिकार था और दोनों भाषाओं में इन्होंने उच्चकोटि की रचना की है। हिन्दी की सभी प्रचलित शैलियों में वीर गाथाकाल की छप्पय-पद्धति, विद्यापति और सूर की गीत-पद्धति, गंग आदि की कवित्त-सवैया-पद्धति, कबीर की दोहा-पद्धति और प्रेममार्गी कवियों की दोहा-चौपाई-पद्धति सब में इनकी रचनाएँ मिलती हैं।

कविता के वर्ण्य विषय की दृष्टि से देखा जाय तो इनका क्षेत्र बहुत विस्तृत है। वास्तव में ये जनता के प्रतिनिधि कवि हैं। मनुष्य के सारे भावों और व्यवहारों के सम्बन्ध में इन्होंने लिखा है और समाज के सामने एक निश्चित और स्पष्ट आदर्श रखने का प्रयत्न किया है। तुलसीदासजी की काव्य-प्रतिभा का प्रमाण 'रामचरितमानस' में एकत्र ही मिल जाता है। यह ग्रन्थ सभी काव्योचित गुणों से सम्पन्न है। शृंगार के वर्णन में इन्होंने मर्यादा का बड़ी कड़ाई से पालन किया है। ये कवि ही नहीं महान् उपदेशक भी थे।

गोस्वामीजी के बारह ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं, जिनमें दोहावली, कवित्त रामायण, गीतावली, रामचरितमानस, रामाज्ञा, प्रश्नावली और विनय-पत्रिका बड़े ग्रन्थ हैं, तथा रामलला-नहछू, पार्वती-मंगल, जानकी-मंगल, बरवै रामायण, वैराग्य संदीपनी और कृष्ण गीतावली छोटे।

हिन्दी साहित्य को अपनी गौरवमयी रचना से गौरवान्वित करके सम्वत् १६८० में गोस्वामीजी ने काशी में गंगा और अस्सी के संगम पर अपना शरीर परित्याग किया।

इनकी कविता में प्रायः सब ही रसों का स्थान पाया जाता है। प्रकृति वर्णन से लेकर मानव-मनोविज्ञान तथा राजनीतिसम्बन्धी विषयों तक की इन्होंने अधिकारपूर्ण चर्चा की है। रसों में प्रायः शान्त, वीर और भयानक रसों के अतिरिक्त अन्य सब ही के उत्तम उदाहरण इनकी रचनाओं में मिलते हैं।

इनकी रचनाओं में प्रायः चार प्रकार की छटाएँ भाषा एवं शैली की दृष्टि से दिखाई देती हैं। रामचरितमानस, विनय पत्रिका, कवितावली तथा कृष्ण गीतावली उसके उदाहरण हैं। दोहावली और सतसई का स्थान इनसे भिन्न है। इन्होंने प्रायः अन्य भाषाओं के शब्दों को ग्रहण करके तथा उनका समुचित उपयोग कर के हिन्दी के शब्दकोश को धनी किया है

वस्तुतः यह विश्व के श्रेष्ठ कवियों में से एक माने जा सकते हैं। संभवतः किसी भी अन्य कवि की रचनाएँ इनकी रचनाओं से अधिक सर्वजनप्रिय न रही होंगी।

रामचरितमानस

(उत्तर काण्ड)

राम विरह सागर महँ भरत मगन मन होत।
बिप्र रूप धरि पवन सुत आइ गयउ जनु पोत॥
बैठे देखि कुसासन जटा मुकुट कृस गात।
राम राम रघुपति जपत स्रवत नयन जल जात॥

देखत हनूमान अति हरषेउ। पुलक गात लोचन जल बरषेउ॥
मन महँ बहुत भाँति सुख मानी। बोलेउ स्रवन सुधा सम बानी॥
जासु बिरहँ सोचहु दिन राती। रटहु निरंतर गुन-गन-पाँती॥
रघुकुल-तिलक सुजन-सुखदाता। आयउ कुसल देव-मुनि-त्राता॥
रिपुरन जीति सुजस सुर गावत। सीता सहित अनुज प्रभु आवत॥
सुनत बचन बिसरे सब दूखा। तृषावंत जिमि पाइ पियूषा॥
को तुम्ह तात कहाँ ते आए। मोहि परम प्रिय बचन सुनाए॥
मारुत-सुत मैं कपि हनुमाना। नामु मोर सुनु कृपा निधाना॥
दीनबंधु रघुपति कर किंकर। सुनत भरत भेंटेउ उठि सादर॥
मिलत प्रेम नहिं हृदय समाता। नयन स्रवत जल पुलकित गाता॥
कपि तव दरस सकल दुख बीते। मिले आजु मोहि राम पिरीते॥
बार बार बूझी कुसलाता। तो कहुँ देउँ काह सुनु भ्राता॥
एहि संदेस सरिस जग माहीं। करि बिचार देखेउँ कछु नाहीं॥
नाहिन तात उरिन मैं तोही। अब प्रभु चरित सुनावहु मोही॥
तब हनुमंत नाइ पद माथा। कहे सकल रघुपति गुन गाथा॥
कहु कपि कबहुँ कृपाल गोसाईं। सुमिरहिं मोहि दास की नाईं॥

छन्द

निज दास ज्यों रघुबंस भूषन कबहुँ मम सुमिरन कर्‌यो।
सुनि भरत बचन बिनीत अति कपि पुलकि तब चरनन्हि पर्‌यो॥
रघुबीर निज मुख जासु गुन गन कहत अग जग नाथ जो।
काहे न होई बिनीत परम पुनीत सदगुन सिंधु सो॥

दोहा

राम प्रान-प्रिय नाथ तुम्ह, सत्य बचन मम तात।
पुनि पुनि मिलत भरत सुनि, हरष न हृदयँ समात॥

सोरठ

भरत चरन सिर नाइ, तुरत गयउ कपि राम पँह।
कही कुसल सब जाइ, हरषि चलेउ प्रभु जान चढ़ि॥

हरषि भरत कोसलपुर आए। समाचार सब गुरहिं सुनाए॥
पुनि मंदिर यह बात जनाई। आवत नगर कुसल रघुराई॥
सुनत सकल जननी उठि धाई। कहि प्रभु-कुसल भरत समुझाई॥
समाचार पुरबासिन्ह पाए। नर अरु नारि हरष सब धाए॥
दधि-दुर्बा रोचन फल-फूला। नव तुलसी-दल मंगल-मूला॥
भरि भरि हेम थार भामिनी। गावत चलीं सिंधुरगामिनी॥
जो जैसेहिं तैसेहिं उठि धावहिं। बाल बृद्ध कहँ संग न लावहिं॥
एक एकन्ह कहँ बूझहिं भाई। तुम्ह देखे दयाल रघुराई॥
अवधपुरी प्रभु आवत जानी। भई सकल सोभा कै खानी॥
बहइ सुहावन त्रिबिध समीरा। भइ सरजू अति निर्मल नीरा॥

दोहा

हरषित गुरु परिजन अनुज, भूसुर बृंद समेत।
चले भरत मन प्रेम अति, सन्मुख कृपा-निकेत॥
बहुतक चढ़ीं अटारिन्ह, निरखहिं गगन बिमान।
देखि मधुर सुर हरषित, करहिं सुमंगल गान॥

राका ससि रघुपति पुर, सिंधु देखि हरपान ।
बढ़यो कोलाहल करत जनु, नारि तरंग समान ।।
इहाँ भानुकुल कमल दिवाकर । कपिन देखावत नगर मनोहर ।।
सुनु कपीस अंगद लंकेसा। पावन पुरी रुचिर यह देसा ।।
जद्यपि सब बैकुंठ बखाना । बेद पुरान बिदित जगु जाना ।।
अवधपुरी सम प्रिय नहिं सोऊ । यह प्रसंग जानइ कोउ कोऊ ।।
जन्म-भूमि मम पुरी सुहाविन । उत्तर दिसि बह सरजू पावनि ।।
जा मज्जन ते बिनहिं प्रयासा । मम समीप नर पावहिं बासा ।।
अति प्रिय मोहिं इहाँ के बासी । मम धामदा पुरी सुख-रासी ।।
हरषे सब कपि सुनि प्रभु बानी । धन्य अवध जो राम बखानी ।।

दोहा

आवत देखि लोग सब, कृपासिंधु भगवान ।
नगर निकट प्रभु प्रेरेउ, उतरेउ भूमि बिमान ।।
उतरि कहेउ प्रभु पुष्पकहि, तुम्ह कुबेर पहिं जाहु ।
प्रेरित राम चलेउ सो, हरषु बिरहु अति ताहु ।।
आए भरत संग सब लोगा । कृसतन श्रीरघुबीर बियोगा ।।
बामदेव बसिष्ट मुनि-नायक । देखे प्रभु महि धरि धनुसायक ।।
धाइ धरे गुरु चरन-सरोरूह । अनुज सहित अति पुलक तनोरूह ।।
भटि कुसल बूझी मुनिराया । हमरें कुसल तुम्हारिहि दाया ।।
सकल द्विजन्ह मिलि नायउ माथा । धर्म-धुरंधर रघुकुल-नाथा ।।
गहे भरत पुनि प्रभु-पद-पकंज । नमत जिन्हहि सुर-मुनि-संकर-अज ।।
परे भूमि नहि उठत उठाए । बर करि कृपासिंधु उर लाए ।।
स्यामल गात रोम भए ठाढ़े । नव राजीव नयन जल बाढ़े ।।

छन्द

राजीव-लोचन स्रवत जल तन ललित पुलकावलि बनी ।
अति प्रेम हृदय लगाइ अनुजहि मिले प्रभु त्रिभुअन-धनी ।।

प्रभु मिलत अनुजहि सोह मो पहिं जाति नहिं उपमा कही।
जनु प्रेम अरु शृंगार तनु धरि मिले बर सुषमा लही॥
बूझत कृपानिधि कुसल भरतहि बचन बेगि न आवई।
सुनु सिवा सो सुख बचन मन ते भिन्न जान जो पावई॥
अब कुसल कौसल-नाथ आरत जानि जन दरसन दियो।
बूड़त बिरह-बारीस कृपानिधान मोहि कर गहि लियो॥

दोहा

पुनि प्रभु हरषि सत्रुहन, भेंटे हृदयँ लगाइ।
लछिमन भरत मिले तब, परम प्रेम दोउ भाइ॥

भरतानुज लछिमन पुनि भेंटे। दुसह बिरह-संभव दुख मेटे॥
सीता-चरन भरत सिरु नावा। अनुज समेत परम सुख पावा॥
प्रभु बिलोकि हरषे पुरबासी। जनित बियोग बिपति सब नासी॥
प्रेमातुर सब लोग निहारी। कौतुक कीन्ह कृपाल खरारी॥
कृपा-दृष्टि रघुबीर बिलोकी। किए सकल नर नारि बिसोकी॥
छन महि सबहि मिले भगवाना। उमा मरम यह काहु न जाना॥
एहि बिधि सबहि सुखी करि रामा। आगे चले सील-गुन-धामा॥
कौसल्यादि मातु सब धाई। निरखि बच्छ जनु धेनु लवाई॥

छन्द

जनु धेनु बालक बच्छ तजि गृह चरन बन परबस गईं।
दिन अंत पुर रुख स्रवत थन हुंकार करि धावत भईं॥
अति प्रेम प्रभु सब मातु भेटीं बचन मृदु बहु बिधि कहे।
गई बिषम बिपति बियोगभव तिन्ह हरष सुख अगनित लहे॥

दोहा

भेटेउ तनय सुमित्रा राम चरन रति जानि।
रामहि मिलत कैकई हृदय बहुत सकुचानि॥

लछिमन सब मातन्ह मिलि, हरषे आसिष पाइ ।
कैकई कहँ पुनि पुनि मिले, मन कर छोभु न जाइ ।।

सासुन्ह सबहि मिली बैदेही । चरनन्हि लागि हरषु अति तेही ।।
देहिं असीस बूझि कुसलाता । होई अचल तुम्हार अहिवाता ।।
सब रघुपति मुख कमल बिलोकहिं । मंगल जानि नयन-जल रोकहिं ।।
कनक-थार आरती उतारहिं । बार बार प्रभु-गात निहारहिं ।।
नाना भाँति निछावर करहीं । परमानंद हरषि उर भरहीं ।।
कौसल्या पुनि पुनि रघुबीरहि । चितवत कृपासिंधु रनधीरहि ।।
हृदय बिचारति बारहिं बारा । कवन भाँति लंकापति मारा ।।
अति सुकुमार जुगल मेरे बारे । निसिचर सुभट महाबलभारे ।।

दोहा

लछिमन अरु सीता सहित, प्रभुहि बिलोकति मातु ।
परमानन्द मगन मन, पुनि पुनि पुलकित गातु ।।

लंकापति कपीस नल नीला । जामवंत अंगद सुभ सीला ।।
हनुमदादि सब बानर बीरा । धरे मनोहर मनुज सरीरा ।।
भरत सनेह सील-ब्रत नेमा । सादर सब बरनहिं अति प्रेमा ।।
देखि नगर बासिन्ह कै रीती । सकल सराहहि प्रभु-पद-प्रीती ।।
पुनि रघुपति सब सखा बुलाए । मुनि-पद लागहु सकल सिखाए ।।
गुरु बसिष्ठ कुल-पूज्य हमारे । इन्हकी कृपा दनुज रन मारे ।।
ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे । भए समर सागर कहँ बेरे ।।
मम हित लागि जन्म इन्ह हारे । भरतहु ते मोहि अधिक पिआरे ।।
सुनि प्रभु बचन मगन सब भए । निमिष निमिष उपजत सुख नए ।।

दोहा

कौसल्या के चरनन्हि, पुनि तिन्ह नायउ माथ ।
आसिस दीन्हे हरषि तुम्ह, प्रिय मम जिमि रघुनाथ ।।

सुमन वृष्टि नभ संकुल, भवन चले सुख-कंद ।
चढ़ी अटारिन्ह देखहीं, नगर नारि-नर-वृन्द ॥

कचंन कलस बिचित्र सँवारे। सबहि धरे सजि निज निज द्वारे ॥
बन्दनवार पताका केतू । सबन्हि बनाए मंगल हेतू ॥
बीथी सकल सुगंध सिचाई । गजमनि रचि बहु चौक पुराई ॥
नाना भाँति सुमंगल साजे । हरपि नगर निसान बहु बाजे ॥
जहँ तहँ नारि निछावरि करहीं । देहिं असीस हरप उर भरहीं ॥
कंचन थार आरती नाना । जुबती सजे करहि सुभ गाना ॥
करहि आरती आरति हरके । रघुकुल कमल बिपिन दिनकर के ॥
पुर-सोभा संपति कल्याना । निगम शेप सारदा बखाना ॥
तेउ यह चरित देखि ठगि रहहीं । उमा तासु गुन नर किमि कहहीं ॥

दोहा

नारि कुमुदिनी अवधसर, रघुपति-बिरह दिनेस ।
अस्त भए बिगसत भइ, निरखि राम राकेस ॥
होहिं सगुन सुभ बिविध बिधि, बाजहि गगन निसान ।
पुर नर नारि सनाथ करि, भवन चले भगवान ॥

प्रभु जानी कैकेई लजानी । प्रथम तासु गृह गए भवानी ॥
ताहि प्रबोधि बहुत सुख दीन्हा । पुनि निज भवन गवन हरि कीन्हा ॥
कृपासिंधु जब मंदिर गए । पुर नर नारि सुखी सब भए ॥
गुरु बसिष्ठ द्विज लिए बोलाई । आजु सुघरी सुदिन समुदाई ॥
सब द्विज देहु हरपि अनुसासन । रामचन्द्र बैठहि सिंहासन ॥
मुनि बसिष्ठ के बचन सुहाए । सुनत सकल बिप्रन अति भाए ॥
कहहि बचन मृदु बिप्र अनेका । जग अभिराम राम अभिषेका ॥
अब मुनिवर बिलम्ब नहि कीजे । महाराज कहँ तिलक करीजे ॥

दोहा

तव मुनि कहेउ सुमंत्र सन, सुनत चलेउ हरपाइ।
रथ अनेक बहु वाजि गज, तुरत सँवारे जाइ ॥
जहँ तहँ धावन पठइ पुनि, मंगल द्रव्य मगाइ ।
हरष समेत बसिष्ठ पद, पुनि सिरुनायउ आइ ॥

अवध-पुरी अति रुचिर बनाई । देवन्ह सुमन वृष्टि झरिलाई ॥
राम कहा सेवकन्ह बुलाई । प्रथम सखन अन्हवाहू जाई ॥
सुनत वचन जह तह जन धाए । सुग्रीवादि तुरत अन्हवाए ॥
पुनि करुनानिधि भरत हँकारे । निज कर राम जटा निरुआरे ॥
अन्हवाए प्रभु तीनउँ भाई । भगत-बछल कृपाल रघुराई ॥
भरत भाग्य प्रभु कोमलताई । सेष कोटि सत सकहिं न गाई ॥
पुनि निजि जय राम विवराए । गुरु अनुसासन माँग नहाए ॥
करि मज्जन प्रभु भूपन साजे । अंग अनंग देखि मत लाजे ॥

दोहा

सासुन्ह सादर जानकिहि, मज्जन तुरत कराइ ।
दिव्य वसन बर भूषन, अंग अंग सज बनाइ ॥
राम-बाम दिसि सोभित, रमारूप गुन-खानि ।
देखि मातु सब हरषीं, जन्म सुफल निजि जानि ॥
सुनु खगेस तेहि अवसर, ब्रह्मा सिव मुनि बृन्द ।
चढ़ि विमान आए सब, सुर देखन सुखकंद ॥

प्रभु बिलोकि मुनि मन अनुरागा । तुरत दिव्य सिंहासन माँगा ॥
रवि सम तेज सो बरनि न जाई । बैठ राम द्विजन्ह सिरु नाई ॥
जनक-सुता समेत रघुराई । पेखि प्रहरषे मुनि समुदाई ॥
वेद मन्त्र तब द्विजन्ह उचारे । नभ सुरमुनि जय जयति पुकारे ॥
प्रथम तिलक बसिष्ठ मुनि कीन्हा । पुनि सब विप्रन्ह आयसु दीन्हा ॥
सुत बिलोकि हरषीं महतारी । बारबार आरती उतारी ॥

विप्रन्ह दान विविध विधि दीन्हे । जाचक सकल अजाचक कीन्हे ॥
सिंहासन पर त्रिभुवन साँई । देखि सुरन्ह दुंदभी बजाई ॥

छन्द

नभ दुंदुभी बाजहिं विपुल गंधर्ब किंनर गावहीं ।
नाचहिं अपछरा-बृन्द परमानंद सुरमुनि पावहीं ॥
भरतादि अनुज बिभीषनांगद हनुमदादि समेत ते ।
गहें छत्र चामर ब्यजन धनु असि चर्म सक्ति बिराजते ॥
श्रीसहित दिनकर बंस-भूषन काम बहु छवि सो हई ।
नव अंबुधर बरगात अंबर पीत सुरमन मोहई ॥
मुकुटांगदादि विचित्र भूषन अंग अंगनि प्रतिसजे ।
अंभोज-नयन बिसार उरभुज धन्यवर निरखंति जे ॥

दोहा

वह सोभा समाज सुख, कहत न बनइ खगेस ।
बरनहिं सारद सेष श्रुति, सो रस जान महेस ॥
भिन्न भिन्न अस्तुति करि, गए सुर निज निज धाम ।
बंदी बेष बेद तब, आए जय श्री राम ॥
प्रभु सर्बग्य कीन्ह अति, आदर कृपानिधान ।
लखउ न काहू मरम कछु, लगे करन गुनगान ॥

विनय-पत्रिका

(१)

जो पै कृपा रघुपति कृपालु की, बैर और के कहा सरै ।
होइ न बाँको बारि भगत को, जो कोउ कोटि उपाय करै ॥१॥
तकै नीच जो मीचु साधु की, सो पामर तेहि मीचु भरै ।
वेद विदित प्रहलाद कथा सुनि, को न भगति-पथ पाऊँ धरै ? ॥२॥

गज उधारि हरि थप्यो बिभीषन ध्रुव अविचल कबहूँ न टरै।
अम्बरीष की श्राप सुरति करि, अजहुँ महामुनि ग्लानि गरै ॥३॥
सो धौं कहा जु न कियो सुजोधन, अबहु आपन नाम जरै।
प्रभु-प्रसाद सौभाग्य बिजय-जस, पांडवनै बरि आइ बरै ॥४॥
जोइ जोइ कूप खनैंगो पर कहँ सो सठ फिरि तेहि कूप परै।
सपनहु सुख न संत-द्रोही कह, सुरतरु सोउ विष फरनि फरै ॥५॥
है काके द्वै सीस ईस के जो हठि जन की सींव चरै।
तुलसिदास रघुवीर बाहुबल, सदा अभय काहू न डरै ॥६॥

(२)

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।
श्रीरघुनाथ कृपा कृपालु ते संत स्वभाव गहौंगो ॥१॥
जथालाभ संतोष सदा, काहू को कछु न चहौंगो।
परहित-निरत-निरंतर, मन-क्रम-बचन नेम निबहौंगो ॥२॥
परुष बचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
विगत मान सम शीतल मन, पर गुन नहिं दोष कहौंगो ॥३॥
परिहरि देह-जनित चिन्ता दुख-सुख सम-बुद्धि सहौंगो।
तुलसिदास प्रभु यहि पथि रहि, अविचल हरि भगति लहौंगो॥

(३)

कैसे देउँ नाथहि खोरि।
काम-लोलुप भ्रमत मन हरि, भगति परिहरि तोरि ॥१॥
बहुत प्रीति पुजाइबे पर, पूजिबे पर थोरि।
देत सिख सिखयो न मानत मूढ़ता असि मोरि ॥२॥
किये सहित सनेह जे अघ हृदय राखे चोरि।
संग बस किये शुभ सुनाए, सकल लोक निहोरि ॥३॥

कवितावली

(१)

अवधेश के द्वारे सकारे गई, सुत गोद के भूपति लै निकसे।
अवलोकि हौं सोच-विमोचन को, ठगि-सी रही, जे न ठगे धिक से ॥
तुलसी मन-रंजन रंजित-अंजन, नैन सुखंजन-जातक से।
सजनी ससि में समसील उभै, नवनील सरोरुह से विकसे ॥

(२)

तन की दुति श्याम-सरोरुह लोचन, कंज की मंजुलताई हरे।
अति सुन्दर सोहत धूरि-भरे, छवि भरि अनंग को रूप धरे ॥
दमकें दँतियाँ दुति दामिनि ज्यौं, किलकें कल बाल-विनोद करें।
अवधेस के बालक चारि सदा, तुलसी-मन-मन्दिर में विहरें ॥

(३)

कबहूँ ससि माँगत आरि करें, कबहुँ प्रतिबिंब निहारि डरें।
कबहूँ कर ताल बजाए कै नाचत, मातु सबै मन मोद भरें ॥
कबहूँ रिसिआइ कहैं हठिकै, पुनि लेत सोई जेहि लागि अरें।
अवधेस के बालक चारि सदा, तुलसी-मन-मन्दिर में विहरें ॥

(४)

बरदंत की पंगति कुंद कली, अधराधर-पल्लव खोलन की।
चपला चमकैं घन बीज जगै, छवि मोतिन माल अमोलन की ॥
घुँघरारि लटैं लटकैं मुख ऊपर, कुण्डल लोल कपोलन की।
नेवछावरि प्रान करै तुलसी बलि जाउँ लला इन बोलन की ॥

(५)

पुर तें निकसीं रघुबीर बधू, धरि धीर दए मग में डग द्वै।
झलकी भरि भाल कनीं जल की, पुट सूखि गए मधुराधर द्वै ॥
फिरि बूझति हैं, चलनो अब केतिक, पर्न-कुटी करिहौ कित ह्वै।
तिय की लखि आतुरता पिय की, अँखियाँ अति चारु चलीं जल च्वै ॥

(६)

सर चारिक चारु बनाइ कसें कटि, पानि सरासन सायकु लै ।
बन खेलत रामु फिरैं मृगया, 'तुलसी' छबि सो बरनै किमि कै ।।
अवलोकि अलौकिक रूप मृगी-मृग चौंकि चकैं, चितवैं चितु दै
न डगैं न भगैं, जियँ जानि, सिलीमुख पंच धरैं रतिनायकु है ।।

(७)

विंध्य के बासी उदासी तपी व्रतधारी महा बिनु नारि दुखारे ।
गौतम तीय तरी, 'तुलसी', सो कथा सुनि भे मुनि-वृन्द सुखारे ।।
ह्वैहैं शिला सब चन्द्रमुखी, परसे पद-मंजुल-कंज तिहारे ।
कीन्ही भली रघुनायक जू ! करुना करि कानन को पगु धारे ।।

(८)

लागी लागी आगि, भागि भागि चले जहाँ तहाँ,
धीय को न माय, बाप पूत न सँभारहीं ।
छूटे बार, बसन उघारे, धूम धुंद अंध,
कहैं बारे बूढ़े 'बारि-बारि' बार बारहीं ।।
हय हिहिनात, भगि जात घहरात गज,
भारी भीर ठेलि-पेलि रौंदि, खौंदि डारहीं ।
नाम लै चिल्लात, बिललात, अकुलात अति,
तात तात ! तौंसिअत, झौंसियत झारहीं ।।

(९)

हाट-बाट हाटकु पिघिल चलो घी-सो घनो,
कनक-कराही लंक तलफति तायसों ।
नाना पकवान जातुधान बलवान सब,
पागि-पागि ढेरी कीन्हि भलीभांति भायसों ।।

पाहुने कृसानु पवमान सों परो जो हनु-
मान सनमानि कै जेंवाय चित्त चायसों ।
'तुलसी' निहारि अरि नारि दै-दै गारि कहैं,
बावरे मुरारि बैर, कीन्हौ राम राय सों ।।

(१०)

जाकें बिलोकत लोकप होत, बिसोक लहैं सुर लोग सुठौरहि ।
सो कमला तजि चंचलता, करि कोटि कला रिझवै सुर मौरहि ।।
ताकौ कहाइ, कहै तुलसी, तूं लजाहि न माँगत कुकूर-कौरहि ।
जानकी-जीवन को जनु है, जरि जाउ सो जीह जो माँगत औरहि ।।

गीतावली

(१)

जागिये कृपानिधान, जानराय रामचन्द्र
जननी कहै बार बार भोर भयौ प्यारे ।
राजिव-लोचन विशाल, प्रीति-बापिका मराल,
ललित कमल-बदन ऊपर मदन कोटि वारे ।।१।।
अरुन उदित विगत सर्बरी, ससांक किरन हीन,
दीन दीप ज्योति मलिन दुति समूह तारे ।
मनहु ज्ञानघन-प्रकास, बीते सब भव-विलास
आस-त्रास तिमिर तोष तरनि तेज तारे ।।२।।
बोलत खगनिकर मुखर मधुर कर प्रतीत सुनहु
स्रवन, प्रान जीवनधन मेरे तुम वारे ।
मनहुँ वेद-बन्दी-मुनिवृन्द-सूत-मागधादि
बिरुद बदत जय जय जय जयति कैटभारे ।।३।।
बिकसित कमलावली, चले प्रपंच चञ्चरीक,
गुंजत कल कोमल धुनि त्यागि कंज न्यारे ।

जनु विराग पार सकल सोप-कूप-गृह बिहाय,
भृत्य प्रेममत्त फिरत गुनत गुन निहारे ॥४॥
सुनत वचन प्रिय रसाल, जागे अतिसय दयाल,
भागे जंजाल विपुल, दुख-कदंब डारे ।
तुलसिदास अति अनंद, देखिकै मुखारविन्द,
छूटे भ्रम-फन्द परम मन्द द्वन्द भारे ॥५॥

(२)

जननी निरखति बान-धनुहियाँ ।
बार बार उर-नैननि लखति प्रभुजूकी ललित पनहियाँ ॥१॥
कबहुँ प्रथम ज्यों जाइ जगावति कहि प्रिय वचन सवारे ।
उठहु तात ! बलि मातु बदन पर अनुज सखा सब द्वारे ॥२॥
कबहुँ कहति यों, बड़ी बार भई, जाहु भूप पहँ भैया ।
बन्धु बोलि जेंइय जो भावै, गई निछावरि मैया ॥३॥
कबहुँ समुझि बन-गवन रामको रहि चकि चित्र-लिखी-सी ।
तुलसिदास वह समय कहेंते, लागति प्रीति सिखी-सी ॥४॥

(३)

मेरो यह अभिलाषु विधाता ।
कब पुरवै सखि सानकूल ह्वै हरि सेवक सुख दाता ॥१॥
सीता-सहित कुसल कोसलपुर, आवत हैं सुत दोऊ ।
स्रवन-सुधा-सम वचन सखी सब आइ कहैगो कोऊ ? ॥२॥
सुनि संदेस प्रेम-परिपूरन संभ्रम उठ धावोंगी ।
बदन बिलोकि रोकि लोचन-जल हरषि हिये लावोंगी ॥३॥
जनकसुता कब सासु कहैं मोंहि, रामलखन कहैं मैया ।
बाहु जोरि कब अजिर चलहिंगे, स्याम-गौर दोउ भइया ॥४॥
तुलसिदास यहि भाँति मनोरथ करत प्रीति अति बाढ़ी ।
थकिति भई उर आनि राम-छवि, मनहु चित्र लिखि काढ़ी ॥५॥

(४)

राघौ ! एक बार फिरि आवौ ।
ए बर बाजि बिलोकि आपने, बहुरो बनहि सिधावौ ॥१॥
जे पय प्याइ, पोखि कर-पंकज, बार-बार पुचकारे ।
क्यों जीवहि, मेरे राम लाडिले ! ते अब निपट बिसारे ॥२॥
भरत चौगुनी सार करत है, अति प्रिय जानि तिहारे ।
तदपि दिनहि दिन होत झाँवरे, मनहु कमल हिम-मारे ॥३॥
सुनहु पथिक ! जो राम मिलहिं बन, कहियो मातु सँदेसो ।
तुलसी मोहि और सबहिन तें, इनको बड़ो अन्देसो ॥४॥

(५)

मेरे एको हाथ न लागो ।
गयो बपु बीति बादि कानन, ज्यों कलपलता दव-दागो ॥१॥
दसरथ सों न प्रेम प्रतिपाल्यो, हुतो जो सकल जग साखी ।
बरबस हरत निसाचर पति सों, हठि न जानकी राखी ॥२॥
मरत न मैं रघुबीर बिलोके, तापस बेष बनाए ।
चाहत चलन प्राण पाँवर बिनु सिय सुधि प्रभुहि सुनाए ॥३॥
बार बार कर मीजि सीस धुनि गीध-राज पछिताई ।
तुलसी प्रभु कृपालु तेहि अवसर आय गए दोउ भाई ॥४॥

(६)

मेरे जान तात ! कछु दिन जीजै ।
देखिये आप सुवन सेवा सुख, मोहि पितु को सुख दीजै ॥१॥
दिव्य देह, इच्छा जीवन, जग बिधि मनाइ मँगि लीजै ।
हरि-हर सुजस सुनाइ, दरस दै, लोग कृतारथ कीजै ॥२॥
देखि बदन, सुनि बचन अमिय, तन राम नयन-जल भीजै ।
बोल्यो बिहँग बिहँसि रघुबर ! बलि, कहौं सुभाय, पतीजै ॥३॥

मेरे मरिबे सम न चारि फल, होंहि तौ, क्यों न कहीजै ?
तुलसी प्रभु दियो उतर मौन ही, परी मानों प्रेम सहीजै ॥४॥

(७)

मेरो सुनियो तात ! सँदेसो ।
सीय-हरन जनि कहेहु पिता सो, ह्वै है अधिक अन्देसो ॥१॥
रावरे पुण्य-प्रताप, अनल महँ, अलप दिनन रिपु दहिहैं ।
कुल-समेत सुर-सभा दसानन, समाचार सब कहिहैं ॥२॥
सुनि प्रभु-वचन राखि उर मूरति, चरन-कमल सिर नाई ।
चल्यो नभ राम-कल-कीरति, अरु निज भाग्य बड़ाई ॥३॥
पितु ज्यों गीध-क्रिया करि, रघुपति अपने धाम पठायो ।
ऐसो प्रभु बिसारि तुलसी सम ! तू चाहत सुख पायो ॥४॥

(८)

मेरो सब पुरुषारथ थाको ।
विपति बँटावन बन्धु-बाहु बिनु, करौं भरोसो काको ॥१॥
सुनु, सुग्रीव ! साँचेहु मोपर फेरयो बदन विधाता ।
ऐसे समय समर-संकट हौं, तज्यो लखन त्यों भ्राता ॥२॥
गिरि, कानन जैहैं साखामृग, हौं पुनि अनुज संघाती ।
ह्वै है कहा विभीषन की गति, रही सोच भरि छाती ॥३॥
तुलसी सुनि प्रभु वचन भालु-कपि सकल विकल हिय हारे ।
जामवंत हनुमंत बोलि तब, औसर जानि प्रचारे ॥४॥

(९)

जौ हौं, अब अनुसासन पावौं ।
तौ चन्द्रमहि निचोरि चैल-ज्यों आनि सुधा सिर नावौं ॥१॥
कै पाताल दलौं ब्याला-वलि अमृत-कुंड महि लावौं ।
भेदि भुवन, करि भानु बाहिरो तुरत राहु दै तावौं ॥२॥

विबुध-बृंद बरबस आनौं धरि तो प्रभु अनग कहावौं ।
पटकौं नीच मीच मूषक-ज्यों, सबहि को पाप वहावौं ॥३॥
तुम्हरेहि कृपा, प्रताप तिहारेहि नेकु बिलंब न लावौं ।
दीजै मोइ आयसु तुलसी-प्रभु जेहि तुम्हरे मन भावौं ॥४॥

वैराग्य-सन्दीपनी

तुलसी यह तनु खेत है, मन बच कर्म किसान ।
पाप पुन्य द्वै बीज है, बवै सो लवै निदान ॥१॥
तुलसी यह तनु तवा है, तपत सदा त्रय ताप ।
सांति होहि जब सांतिपद, भावै रामप्रताप ॥२॥
तुलसी ऐसे कहुं कहुं, धन्य धरनि वह संत ।
पर काजे परमारथी, प्रीति लिये निबहंत ॥३॥
की मुख पट दीन्हे रहे, यथा अर्थ भाषंत ।
तुलसी या संसार में, सो विचारयुत संत ॥४॥
बोलै बचन बिचारकै, लीन्हे संत सुभाव ।
तुलसी दुख दुर्वचन के, पंथ देत नहि पांव ॥५॥
सत्रु न काहू करि गनै, मित्र गनै नहि काहि ।
तुलसी यह मत संत को, बोलै समता माहि ॥६॥
सो जन जगत जहाज है, जाके राग न दोष ।
तुलसी तृस्ना त्यागि कै, गहेउ सील संतोष ॥७॥
तन करि मन करि, बचन करि, काहू दूषत नाहि ।
तुलसी ऐसे संत जन, राम रूप जग माहि ॥८॥
जाके मन ते उठि गई, तिल तिल तृस्ना चाहि ।
मनसा बाचा कर्मना, तुलसी बंदत ताहि ॥९॥
कंचन काँचहि सम गनै, कामिनि काठ पषान ।
तुलसी ऐसे संतजन, पृथ्वी ब्रह्म समान ॥१०॥

विरलै विरलै पाइये, माया त्यागी संत ।
तुलसी कामी कुटिलखल, केकी काक अनंत ॥११॥
तुलसी भगत सुपच भलो, भजै रैन-दिन राम ।
ऊँचो कुल केहि काम को, जहाँ न हरि को नाम ॥१२॥
सात दीप नवखंड लौं, तीनि लोक जग माहि ।
तुलसी सांति समान सुख अपर दूसरो नाहि ॥१३॥
सोइ पंडित सोइ पारखी, सोई संत सुजान ।
सोई सूर सचेत सो, सोई सुभट प्रमान ॥१४॥
सोई ज्ञानी सोई गुनी जन, सोई दाता ध्यानि ।
तुलसी जाके चित भई, राग द्वेष की हानि ॥१५॥

८—रहीम

रहीम का पूरा नाम अब्दुर्रहीम खानखाना था। यह बादशाह अकबर के अभिभावक मुगल सरदार बैरम खाँ खानखाना के पुत्र थे। इनका जन्म १६१० ई० में हुआ था। ये अकबर के प्रधान सेनापति थे। संस्कृत, अरबी और फारसी के यह पूर्णपण्डित थे। भाषा पर इनका बड़ा अधिकार था। इनके दोहों में तुलसी की मार्मिकता और भावुकता टपकती है।

रहीम को संसार का बड़ा गहरा अनुभव था। इनके काव्य से मानव-प्रकृति का अच्छा ज्ञान होता है। ये बड़े उदार-हृदय, दानी और वीर थे। एक बार इन्होंने गंग कवि को उनकी काव्य-रचना पर मुग्ध हो कर ३६ लाख रुपये दे दिये थे।

रहीम हिन्दी कविता के बहुत अच्छे मर्मज्ञ थे। इन्होंने 'रहीम दोहावली', 'बरवै नायिका भेद', 'शृंगार सोरठ', 'मदनाष्टकम्' और 'रास पंचाध्यायी' पाँच ग्रन्थ बनाए। इनमें 'रहीम दोहावली' और 'बरवै नायिक भेद' विशेष प्रसिद्ध हैं।

इनकी मृत्यु सं० १६८३ में हुई।

दोहे

तरुवर फल नहिं खात हैं, सरवर पियहिं न पान।
कहि रहीम परकाज हित, सम्पति सुचहिं सुजान ॥१॥

जिहि रहीम चित आपनों, कीन्हों चतुर चकोर।
निसि-बासर लागो रहै, कृष्ण-चन्द्र की ओर ॥२॥

कहि रहीम धन बढ़ि घटे, जात धनिक की बात ।
घटे बढ़े उनको कहा, घास बेंचि जे खात ॥३॥
दुरदिन परे रहीम कहि, भूलत सब पहचानि ।
सोच नहीं वित हानि को, जो न होय हित हानि ॥४॥
को रहीम पर द्वार पर, जात न जिय पछितात ।
संपति के सब जात हैं, बिपति सबहिं लै जात ॥५॥
यों रहीम सुख-दुख सहत, बड़े लोग सह शान्ति ।
उवत चन्द्र जिहि भाँति सो, अथवत वाही भाँति ॥६॥
कहि रहीम संपति सगे, बनत बहुत बहु रीत ।
विपति कसौटी जे कसे, तेई साँचे मीत ॥७॥
तबही लग जीबो भलो, दीबो परे न धीम ।
बिन दीबो जीबो जगत, हमहिं न रुचै रहीम ॥८॥
रहिमन देखि बड़ेन को, लघु न दीजिये डारि ।
जहाँ काम आवै सुई, कहा करे तरवारि ॥९॥
धनि रहीम गति मीन की, जल बिछुरत जिय जाय ।
जियत कंज तजि अंत बसि, कहा भौर को भाय ॥१०॥
दीरघ दोहा अर्थ के, आखर थोरे आहिं ।
ज्यों रहीम नट-कुण्डली, सिमिट कूदि कढ़ि जाहिं ॥११॥
ए रहीम घर घर फिरै, माँगि मधुकरी खाहिं ।
यारो यारी छोड़ि दो, अब रहीम वे नाहिं ॥१२॥
संतत संपति जानि के, सबको सब कुछ देइ ।
दीनबन्धु बिन दीन की, को रहीम सुधि लेइ ॥१३॥
समय दशा कुल देखि के, लोग करत सनमान ।
रहिमन दीन अनाथ को, तुम बिन को भगवान ॥१४॥
सर सूखे पंछी उड़ैं, औरे सरन समाहिं ।
दीन मीन बिन पच्छ के, कहु रहीम कहँ जाहिं ॥१५॥

दीन सबन को लखत है, दीनहिं लखै न कोय ।
जो रहीम दीनहिं लखै, दीनबन्धु सम होय ॥१६॥
कहु रहीम कैसे निभै, बेर केर को संग ।
वे डोलत रस आपने, उनके फाटत अंग ॥१७॥
जो रहीम ओछो बढ़ै, तौ अतिही इतराय ।
प्यादे से फरजी भयो, टेढ़ो टेढ़ो जाय ॥१८॥
खीरा को मुँह काटिके, मलियत लोन लगाय ।
रहिमन करुये मुखन को, चहिये यही सजाय ॥१९॥
नैन सलोने अधर मधु, कहु रहीम घटि कौन ।
मीठो भावै लोन पर, अरु मीठे पर लोन ॥२०॥
रहिमन राज सराहिये, ससि सम सुखद जो होय ।
कहा बापुरो भानु है, तप्यो तरैयन खोय ॥२१॥
कमला थिर न रहीम कहि, यह जानत सब कोय ।
पुरुष पुरातन की बधू, क्यों न चंचला होय ॥२२॥
रहिमन कहत सुपेट सों, क्यों न भयो तू पीठ ।
रीते अनरीते करत, भरे बिगारत दीठ ॥२३॥
जे गरीब सों हित करैं, धनि रहीम वे लोग ।
कहा सुदामा बापुरो, कृष्ण मिताई जोग ॥२४॥
जो रहीम उत्तम प्रकृति, का करि सकत कुसंग ।
चन्दन विष व्यापत नहीं, लपटे रहत भुजंग ॥२५॥
बड़े पेट के भरन में, है रहीम दुख बाढ़ि ।
याते हाथी हहरि के, दये दाँत द्वै काढ़ि ॥२६॥
ओछो काम बड़े करैं, तौ न बड़ाई होय ।
ज्यों रहीम हनुमन्त को, गिरिधर कहै न कोय ॥२७॥
जो बड़ेन को लघु कहो, नहिं रहीम घटि जाहिं ।
गिरिधर मुरलीधर कहे, कछु दुख मानत नाहिं ॥२८॥

शशि सकोच साहस सलिल, मान सनेह रहीम ।
बढ़त बढ़त बढ़ि जात है, घटत घटत घटि सीम ॥२९॥
यह रहीम निज संग ले, जनमत जगत न कोय ।
बैर-प्रीति अभ्यास यश, होत होत ही होय ॥३०॥
बड़े दीन को दुख सुने, लेत दया उर आनि ।
हरि हाथी सों कब हुती, कहु रहीम पहिचानि ॥३१॥
प्रीतम छवि नैननि बसी, पर छवि कहाँ समाय ।
भरी सराय रहीम लखि, आप पथिक फिरि जाये ॥३२॥
गुरुता फबै रहीम कहि, फबि आई है जाहि ।
उर पर कुच नीके लगें, अनत बतौरी आहि ॥३३॥
कौन बड़ाई जलधि मिलि, गंग नाम भौ धीम ।
केहि की प्रभुता नहिं घटी, पर घर गये रहीम ॥३४॥
मान सरोवर ही मिलै, हंसनि मुक्ता भोग ।
सफरिन भरे रहीम सर, बक बालक नहि जोग ॥३५॥
जो पुरुषारथ ते कहूँ, संपति मिलति रहीम ।
पेट लागि बैराट घर, तपत रसोई भीम ॥३६॥
अनुचित उचित रहीम लघु, करहिं बड़ेन के जोर ।
ज्यों शशि के संयोग ते, पचवत आगि चकोर ॥३७॥
धनि रहीम जल पंकको, लघु जिय पियत अघाय ।
उदधि बड़ाई कौन है, जगत पियासो जाय ॥३८॥
माँगे घटत रहीम पद, कितो करो बढ़ि काम ।
तीन पैग बसुधा करी, तऊ बावनैं नाम ॥३९॥
नाद रीझि तन देत मृग, नर धन हेत समेत ।
ते रहीम पशु ते अधिक, रीझेहु कछू न देत ॥४०॥
रहिमन अँसुआ नयन ढरि, जिय दुख प्रगट करेइ ।
जाहि निकारो गेह दे, कस न भेद कहि देइ ॥४१॥

रहिमन लाख भरी करौ, अगुनी अगुन न जाय ।
राग सुनत पय पियत हूँ, साँप सहज धरि खाय ॥४२॥
शीत हरत तम हरत नित, भुवन भरत नाहिं चूक ।
रहिमन तेहि रवि को कहा, जो घटि लखै उलूक ॥४३॥
नहि रहीम कुछ रूप-गुन, नहिं मृगया अनुराग ।
देशी श्वान जो राखिये, भ्रमत भूखही लाग ॥४४॥
बिगरी बात बनै नहीं, लाख करौ किन कोय ।
रहिमन बिगरे दूध को, मथै न माखन होय ॥४५॥
मथत मथत माखन रहै, दही मही बिलगाय ।
रहिमन सोई मीत है, भीर परे ठहराय ॥४६॥
यों रहीम गति बड़ेन की, ज्यों तुरंग व्यवहार ।
दाग दिवावत आपु तन, सही होत असवार ॥४७॥
रहिमन निजमन की व्यथा, मनही राखौ गोय ।
सुनि अठिलैहैं लोग सब, बाँटि न लैहैं कोय ॥४८॥
गहि सरनागति राम की, भव सागर की नाव ।
रहिमन जगत उधार कर, और न कछू उपाव ॥४९॥
रहिमन वे नर मर चुके, जे कहुँ माँगन जाहिं ।
उनमे पहिले वे मुए, जिन मुख निकसत नाहिं ॥५०॥
जाल परे जल जात बहि, तजि मीनन को मोह ।
रहिमन मछरी नीर को, तऊ न छाड़त छोह ॥५१॥
धन दारा अरु सुतन में, रहत लगाए चित्त ।
क्यों रहीम खोजत नहीं, गाढ़े दिन को मित्त ॥५२॥
कमला थिर न रहीम कहि, लखत अधम जे कोइ ।
प्रभु की सो अपनी कहै, क्यों न फजीहत होइ ॥५३॥
रहिमन पानी राखिये, बिन पानी सब सून ।
पानी गये न ऊबरै, मोती मानुस चून ॥५४॥

मानसरोवर ही मिले, हंसन मुक्ता भोग ।
सफरी भरे रहीम ए, विपुल बिलोकन योग ॥५५॥
बढ़त रहीम धनाढ्य धन, धनै धनी को जाइ ।
घटे बढ़ै तिन को कहा, भीख माँगि जो खाइ ॥५६॥
काज परे कछु और है, काज सरे कछु और ।
रहिमन भाँवर के भये, नदी सोरावत मौर ॥५७॥
अब रहीम मुसकिल परी, गाढ़े दोऊ काम ।
सांचे से तो जग नहीं, झूठे मिलै न राम ॥५८॥
रहिमन कोऊ का करै, ज्वारी चोर लबार ।
जो पति-राखन-हार है, माखन-चाखन-हार ॥५९॥
रहिमन विपदा हू भली, जो थोरे दिन होय ।
हित अनहित या जगत में, जानि परत सब कोय ॥६०॥
साधु सराहै साधुता, यती जोखिता जान ।
रहिमन साधे सूर को, वैरी करै बखान ॥६१॥
करत निपुनई गुन बिना, रहिमन निपुन हजूर ।
मानो टेरत बिटप चढ़ि, मोहि समान को कूर ॥६२॥
जो रहीम सुख होत है, उपकारी के संग ।
बाँटनवारे के लगै, ज्यों मेंहदी को रंग ॥६३॥
माँगे मुकुरि न को गयो, केहि न त्यागियो साथ ।
माँगत आगे सुख लह्यो, ते रहीम रघुनाथ ॥६४॥
छिमा बड़ेन को चाहिए, छोटेन को उतपात ।
का रहीम हरि को घट्यो, ज्यों भृगु मारी लात ॥६५॥

९—केशवदास

ये सनाढ्य ब्राह्मण थे। इनका जन्म सम्वत् १६१२ में हुआ था। ये ओरछा नरेश महाराज रामसिंह के भाई इन्द्रजीत सिंह की सभा में रहते थे। इनका घराना पण्डितों का था और राजकुल में इनका बड़ा सम्मान था। ये स्वयं भी संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे। हिन्दी में तो ये साहित्य-शास्त्र के प्रथम आचार्य माने जाते हैं।

केशव के रचे सात ग्रन्थ मिलते हैं—कविप्रिया, रसिक-प्रिया, रामचन्द्रिका, वीरसिंह-देव चरित, विज्ञानगीता, रतन बावनी और जहांगीर जस चन्द्रिका।

इन ग्रन्थों में 'रामचन्द्रिका', 'रसिक-प्रिया', 'कवि-प्रिया' और 'विज्ञान-गीता' विशेष प्रसिद्ध हैं।

केशव की भाषा ब्रजभाषा है, परन्तु श्लेषादि शब्दालंकारों का प्राधान्य होने से संस्कृतमयता आ गई है। इनकी भाषा अधिकांश स्थलों पर अस्पष्ट, क्लिष्ट और बोझिल बन गई है।

प्रबन्ध काव्य की दृष्टि से केशव का स्थान हिन्दी साहित्य में बहुत ऊंचा नहीं है परन्तु उनके द्वारा काव्य के अंगों का अच्छा परिचय मिलता है। यद्यपि वे हमारे सामने कवि और आचार्य दोनों रूपों में आते हैं, तथापि वे आचार्य पहले हैं, कवि बाद में।

(१)

कैटभ सों नरकासुर सों पल के मधु सों मुर सो जिन मारयो।
लोक चतुर्दश केशव रक्षक पूरन वेद पुरान विचारयो ॥

श्रीकमला-कुच-कुंकुम-मंडित पंडित देव अदेव निहारचो।
सो कर माँगन को बलि पै करतारहु ने करवार पसारचो ।।

(२)

जौं हौं कहौं रहिये तो प्रभुता प्रकट होत चलन कहौं तौ हित हानि नहि सहनो।
भावै सो करहु, तौ उदास भाव प्राणनाथ साथ लै चलहु कैसे लोक लाज बहनो ।।
केशोदास की सौं तुम सुनहु छबीले लाल चलेही बनत जो पै नाही राज रहनो।
जैसये सिखाओ सीख तुमही सुजान प्रिय तुमही चलत मोंहि जैसो कछु कहनो ।।

(३)

धिक मंगन विन गुणहि गुण सुधिक सुनत न रीझिय ।
रीझ सुधिक बिन मौज मौज धिक देत सुखीजिय ।।
दीवो धिक विन साँच साँच धिक धर्म न भावै ।
धर्म सुधिक विन दया दया धिक अरि कहँ आवै ।।
अरि धिक चित्त न सालई, चित धिक जहँ न उदार मति ।
मति धिक केशव ज्ञान विनु, ज्ञान सुधिक विनु हरि-भगति ।।
कवि-कुल ही के श्रीफलन, उर अभिलाप समाज ।
तिथिहि को छय होत है, रामचन्द्र को राज ।।

१०—रसखान

इनका जन्मकाल १६४० और मृत्युकाल १६८५ के लगभग माना जाता है। यह दिल्ली के पठान थे। इन्होंने अपने आपको बादशाही वंश से सम्बन्धित लिखा है। कुछेक वैष्णवों के सम्पर्क में आकर इन्होंने उन्हीं से श्रीकृष्ण का गुणगान सुना और उससे अत्यधिक प्रभावित हुए। गोस्वामी विट्ठलदासजी ने इनका हरि-प्रेम देख कर मुसलमान होते हुए भी इन्हें अपना शिष्य बनाना स्वीकार कर लिया। इनकी गणना गोस्वामीजी के २२५ मुख्य शिष्यों में हुई।

इन्होंने श्रीकृष्ण-प्रेम की गंगा में जो भर कर स्नान किया। इनकी शृंगार रस की रचनाएँ भी सुन्दर हैं। इनकी उपलब्ध पुस्तकें 'प्रेम-वाटिका' एवं 'सुजान रसखान' हैं। कृष्णप्रेम में लिखे हुए इनके कुछ छन्द अत्यन्त लोकप्रिय हैं। इनकी भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है। इनकी कविता भक्तिरस से पूर्ण तो है ही, लालित्यपूर्ण भी है।

(१)

मानस हौं तो वही रसखान बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पसु हौं तो कहा बस मेरो चरौं नित नंद की धेनु मँझारन॥
पाहन हौं तो वही गिरि को जो धरयो कर छत्र पुरन्दर धारन।
जौ खग हौं तो बसेरो करौं मिलि कालिन्दि कूल कदम्ब की डारन।

(२)

या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारों।
आठहुँ सिद्धि नवों निधि को सुख नन्द की गाय चराइ बिसारौं॥

रसखानि कबौं इन आँखिन सों ब्रज के बन-बाग-तड़ाग निहारौं ।
कोटिन हूँ कलधौत के धाम क़रील के कुंजन ऊपर वारौं ॥

(३)

आयो हुतो नियरे रसखानि कहा कहूँ तू न गई वहि ठैया ।
या ब्रज में सिगरी बनिता सब वारति प्रानिन लेत बलैया ॥
कोऊ न काहू की कानि करै कछु चेटक सो जु कर्यो जदुरैया ।
गाइगो तान जमाइगो नेह रिझाइगो प्रान चराइगो गैया ॥

(४)

सोहत है चँदवा सिरमौर के जैसियै सुन्दर पाग कसी है ।
तैसियै गोरज भाल बिराजति जैसी हिये बनमाल लसी है ॥
रसखानि बिलोकत बौरी भई दृग मूँदि कै ग्वालि पुकारि हँसी है ।
खोलि री घूँघट खोलौं कहा वह मूरति नैनन माँझ बसी है ॥

(५)

सेस गनेस महेस दिनेस सुरेसहु जाहि निरन्तर गावैं ।
जाहि अनादि अनन्त अखण्ड अछेद अभेद सुवेद बतावैं ॥
जाहि हिये लखि आनंद व्है जड़ मूढ़ हिये रसखानि कहावैं ।
ताहि अहीर की छोहरिया छछियाँ भरि छाछ पै नाच नचावैं ॥

११—सेनापति

इनका जन्मकाल सं० १६४६ के लगभग माना जाता है। मृत्युकाल निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है। यह कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम गंगाधर है। स्वयं इन्होंने अपना जो परिचय दिया है उसके अनुसार इनके पितामह परशुराम दीक्षित रहे होंगे तथा गुरु हीरामणि थे। इनका स्वयं दिया हुआ परिचय निम्नलिखित है:—

दीक्षित परशुराम दादो है विदित नाम,
जिन कीने यज्ञ जाकी जग में बड़ाई है।
गंगाधर पिता गंगाधर के समान जाके,
गंगातीर बसति अनूप जिन पाई है॥
महा जान मनि विद्या दानहू ते चिन्तामनि,
हीरामनि दीक्षित तें पाई पंडिताई है।
सेनापति सोई सेनापति के प्रसाद जाकी,
सब करिब कान है सुनत कविताई है॥

इनके दो ग्रन्थ "काव्य कल्पद्रुम" और "कवित्त-रत्नाकर" पाये जाते हैं। यह दोनों ही पुस्तकें ब्रजभाषा में हैं। "कवित्त-रत्नाकर" में इनकी प्रतिभा बहुमुखी हो उठी है। इनकी कविता वास्तव में उच्चकोटि की चमत्कारपूर्ण कविता है। इनका छः ऋतुओं का वर्णन तो अत्यन्त सुन्दर तथा सरस है। ऐसा सुन्दर ऋतु-वर्णन केवल संस्कृत में ही मिलता है। इन्होंने स्वयं भी अपनी कविता की बड़ी प्रशंसा की है, किन्तु वह इनकी आत्म-गौरव की ही द्योतक है।

इन्होंने अधिकतर घनाक्षरियाँ लिखी हैं। क्योंकि ये अपना नाम प्रत्येक छंद में अवश्य रखते थे। इनके काव्य की भाषा में अनुप्रास अधिक है और इनकी कविता में 'रूपक' भी अधिक मिलते हैं। उपमाओं के प्रयोग भी सुन्दर हैं। वस्तुतः काव्य की दृष्टि से इनके सब ही पद अत्यन्त सुन्दर एवं उत्कृष्ट हैं।

राम-भक्ति इनके अनेकों छन्दों में स्पष्ट रूप से तरंगित है। अन्तिम दिनों में तो इन्होंने क्षेत्र-सन्यास ले लिया था।

षट्-ऋतु वर्णन

वसन्त

वरन वरन तरु फूले उपवन वन,
सोइ चतुरंग संग दल लहियत है।
वंदी जिमि बोलत विरद वीर कोकिल है,
गुंजत मधुप गान गुन गहियत है॥
आव आस पास पुहुपन की सुवास,
सोई सोंधे के सुगंध माँझ सने रहियत है।
सोभा कौं समाज, 'सेनापति' सुख-साज आज,
आवत वंसत रितुराज कहियत है॥१॥

लसत कुटज, घन चंपक, पलास वन,
फूली सब साखा जे हरति जन-चित्त हैं।
सेत, पीत, लाल फूल जाल हैं विसाल,
तहाँ आधे अलि अच्छर जे कारज ते मित्त हैं
'सेनापति' माधव महीना भरि नेम करि,
बैठे द्विज कोकिल करत घोष नित्त हैं।
कागद रंगीन में प्रवीन हैं वसंत लिखे,
मानौं काम चक्कवै के विक्रम कवित्त हैं॥

ग्रीष्म

वृष को तरनि तेज सहसौ किरनि कर,
ज्वालन के जाल विकरालु बरसतु है।
तजति धरनि जग गरत घराने सीरी,
छाँह को पकरि पक्षी पंछी विरमतु है।
'सेनापति' नेक दुपहरी के ढरत होतु,
धरका विषम मों न परतु खरकतु हैं।
मेरे जान पौनो सोर ठौर को पकरि कौनो,
घरो एकु बैठि कहूँ वामैं बितवतु हैं॥
'सेनापति' तपन तपत उतपति तैसो,
छायो रति-पति ताने विरह बरतु है।
लुवन की लपटैं ते चहुँ ओर लपटैं पै,
गाढ़े सलिल पटै न चैन उपजतु है॥
गगन गरद धूँधि दसौ दिसा रही रूँधि,
मानो नभ भार की भसम बरसतु है।
बरनि बताई छिति व्योम की तताई,
जेठ गायो आततार्इ पुटपाक सो करतु है॥

पावस

दामिनी दमक सोई मद बिहँसिनि, बग,
भाल है बिसाल सोई मोहिनो को हारौ हं।
बरन बरन घन रंगित बसन तन,
गरज गरूर सोई बाजत नगारौ हैं।
'सेनापति' सावन को बरसा नवल बधू,
मानौ है बरति साजि सकल सिंगारौ हैं।

त्रिविध वरन परयौं इन्द्र कौं धनुष लाल,
पन्ना सौं जटित मानौं हमें खगवारौ हैं ।।
'सेनापति' उनए नए जलद सावन के,
चारि हूँ दिसान घुमरत भरे तोइ के ।
सोभा सरसाने न बखाने जात काहुँ भाँति,
आने हैं पहार मानों काजर कै ढोइ कै ।।
घन सौ गगन छप्यौ, तिमिर सघन भयौ,
देखि न परत मानौं रवि गये खोइ कै ।
चारि मास भरि स्याम निसा के भरम करि,
मेरे जानि याही तैं रहत हरि सोइ कै ।।

शरद

पाउ निकास तातैं पायौ अवकास, भयो,
जोन्ह कौं प्रकास सोभा ससि रमनीय कौं ।
विमल अकास होते बारिज विकास,
'सेनापति' फूले कास हित हंसन के हिय कौं ।।
छिति न गरद मानौं रंगे हैं दरद सालि,
सोहत जरद को मिलावैं हरि पीय कौं ।
मत्त है दुरद मिटयों खंजन दरद, हितु,
आई है सरद सुखदाई सब जीय कौं ।।
कातिक की राति थोरी थोरी सियराति,
'सेनापति' है सुहाति सुखी जीवन के गन हैं ।
फूले हैं कुमुद, फूली मालती सघन बन,
फूलि रहे तारे मानों मोती अनगन हैं ।।
उदित विमल चन्द चाँदनी छिटकि रही,
राम कैसो जस अध ऊरध गगन हैं ।

तिमिर हरन भयौ, सेत है बरन सब,
मानहु जगत छीर-सागर मगन है ।।

हेमन्त एवं शिशिर

सीत कौ प्रबल 'सेनापति' कोप चढ्यो दल,
निबल अनल गयो सूर सियराइ कै ।
हिम के समीर तेई बरसैं विषम तीर,
रही है गरम मौन कोनन मैं जाइ कै ।।
धूम नैन बहैं, लोग आगि पर गिरे रहैं,
हिय सौं लगाइ रहैं नेकु सुलगाइ कै ।
मानौं भीत जानि, महासीत तैं पसारि पानि,
छतियाँ की छाँह राख्यौ पाउक छिपाइ कै ।।
सिसिर-तुषार के बुखार से उखारत हैं,
पूस बीते होत सून हाथ पाइ ठिरिकै ।
व्योम की छुटाई की बड़ाई बरनी न जाइ,
'सेनापति' पाई कुछ सोचि कै सुमिरिकै ।।
सीत तैं सहस कर सहस-चरन ह्वै कै,
ऐसे जात भाजि तम आवत है घिरि कै ।
जौ लौं कोक-कोकी कौं मिलत तौं लौं होति राति,
कोक अधबीच ही तैं आवत है फिरि कै ।।

१२—बिहारीलाल

बिहारी का जन्म सम्वत् १६५२ में ग्वालियर में हुआ था। इनके पिता नाम केशवराय था और ये जाति के माथुर चतुर्वेदी ब्राह्मण थे। इनके आश्रयदाता जयपुर-नरेश महाराज जयसिंह थे। महाराज जयसिंह की आज्ञा से लिखे ७०० दोहों का संग्रह ही "बिहारी सतसई" के नाम से प्रसिद्ध है और यही बिहारी की एकमात्र रचना है। इसी पर बिहारी की प्रसिद्धि अवलम्बित है। इसका एक-एक दोहा हिन्दी साहित्य का अमूल्य रत्न समझा जाता है। वास्तव में बिहारी के सम्पूर्ण दोहे हीरे की भाँति कटे-छँटे हैं। कवि ने एक ही दोहे में अनेक खण्ड-दृश्यों, भाव-भंगिमाओं, मुद्राओं तथा हाव-भावों को अत्यन्त कुशलतापूर्वक उपस्थित किया है।

बिहारी ने संयोग शृंगार का बहुत ही विलासमय परन्तु स्वाभाविक चित्रण किया है। विरह-वर्णन कहीं-कहीं अस्वाभाविक और अतिशयोक्ति-पूर्ण हो उठा है।

अलंकारों की योजना कवि ने बहुत निपुणता से की है। एक ही दोहे में अनेक अलंकारों का उपस्थित करना बिहारी का ही काम था।

बिहारी ने कुछ भक्तिसम्बन्धी दोहे और नीतिसम्बन्धी सूक्तियाँ भी लिखी हैं।

बिहारी की भाषा साहित्यिक ब्रजभाषा है। ब्रजभाषा के अन्य कवियों की भाँति इन्होंने शब्दों को तोड़ा-मरोड़ा नहीं। इनके शब्दों के व्यवहार की एक निश्चित प्रणाली है, और वाक्यों के रूप व्यवस्थित हैं।

मेरी भव बाधा हरो, राधा नागरि सोय ।
जा तनु की झाँई परे, श्याम हरित-द्युति होय ॥१॥
मकराकृत गोपाल के, कुंडल सोहत कान ।
धर्‌यो मनो हियघर समर, ड्योढ़ी लसन निसान ॥२॥
अधर धरत हरि के परत, ओठ दीठ पट जोति ।
हरित बाँस को बाँसुरी, इन्द्रधनुष रँग होति ॥३॥
यद्यपि सुन्दर सुघर पुनि, सगुनो दीपक देह ।
तऊ प्रकास करै तितो, भरिये जितो सनेह ॥४॥
जो चाहत चटकन घटै, मैलो होय न मित्त ।
रज राजस न छुवाइये, नेह चीकने चित्त ॥५॥
जहाँ जहाँ ठाढ़यो लख्यो, स्याम सुभग सिरमौर ।
उनहुँ बिन छिन गहि रहत, दृगनि अजहुँ वहि ठौर ॥६॥
चिरजीवो जोरी जुरै, क्यों न सनेह गँभीर ।
को घटि ये वृषभानुजा, वे हलधर के बीर ॥७॥
सोहत ओढ़े पीतपट, स्याम सलोने गात ।
मनो नीलमनि सैल पर, आतप पर्‌यो प्रभात ॥८॥
बतरस लालच लाल की, मुरली धरी लुकाय ।
सौंह करै भौंहनि हँसै, देन कहै नटि जाय ॥९॥
कहलाने एकत रहत, 'अहि मयूर मृग बाघ ।
जगत तपोवन सों कियो, दीरघ दाघ निदाघ ॥१०॥
कोटि जतन कोऊ करै, परै न प्रकृतिहि बीच ।
नल-बल जल ऊँचो चढ़ै, अन्त नीच को नीच ॥११॥
तन्त्री-नाद कवित्त-रस, सरस राग रति-रंग ।
अनबूड़े बूड़े तरे, जे बूड़े सब अंग ॥१२॥
कैसे छोटे नरन तें, सरत बड़नि के काम ।
मढ़ो दमामो जात है, कहिं चूहे के चाम ॥१३॥

अति अगाध अति ऊथरो, नदी कूप सर बाय ।
सो ताको सागर जहाँ, जाकी प्यास बुझाय ॥१४॥
जगत जनायो जिहि सकल, सो हरि जान्यो नाहि ।
ज्यों आँखिन सब देखिये, आँख न देखी जाहि ॥१५॥
मीत न नीति गलीत ह्वै, जो धरिये धन जोरि ।
खाये खरचे जो बचै, तौ जोरिये करोरि ॥१६॥
दुसह दुराज प्रजान में, क्यों न करै दुख-द्वंद ।
अधिक अँधेरो जग करत, मिलि मावस रवि-चंद ॥१७॥
घर-घर डोलत दीन ह्वै, जन-जन जाचत जाय ।
दिये लोभ-चसमा चखनि, लघु पुनि बड़ो लखाय ॥१८॥
बसै बुराई जासु मन, ताही को सन्मान ।
भलो भलो कहि छाँडिये, खोटे ग्रह जप-दान ॥१९॥
कहै यहै श्रुति सम्रितिहूँ, सबै सयाने लोग ।
तीन दबावत निकट ही, राजा पातक रोग ॥२०॥
बुरौ बुराई जो तजै, तौ मन खरो सकात ।
ज्यों निकलंक मयंक लखि, गनै लोग उतपात ॥२१॥
सीतलताऽरु सुगन्ध की, महिमा घटी न मूर ।
पीन सवारे जो तज्यो, सोरा जानि कपूर ॥२२॥
बढ़त बढ़त संपति सलिल, मन-सरोज बढ़ि जाइ ।
घटत घटत पुनि ना घटै, वरु समूल कुम्हिलाइ ॥२३॥
संगति सुमति न पावई, परे कुमति के धंध ।
राखो मेलि कपूर में, हींग न होय सुगन्ध ॥२४॥
को कहि सकै बड़ेन सों, लखे बड़ीयो भूल ।
दीने दई गुलाब की, इन डारन ये फूल ॥२५॥
चले जाहु ह्याँ को करै, हाथिन को व्योपार ।
नहिं जानत यहि पुर बसैं, धोबी और कुम्हार ॥२६॥

नर की अरु नल-नीर की, एकै गति करि जोय।
जेतो नीचो ह्वै चलै, तेतो ऊँचो होय ॥२७॥
मरत प्यास पिंजँरा परघो, सुआ समय के फेर।
आदर दै दै बेलियतु, बायस बलि की बेर ॥२८॥
नहिं पावस ऋतुराज यह, तज तरुवर मति भूल।
अपत भये बिन पाइहौ, क्यों नव-दल फल-फूल ॥२९॥
करले सूँघि सराहि कैं, रहै सबै गहि मौन।
गन्धी गन्ध गुलाब को, गँवई गाहक कौन ॥३०॥
करि फुलेल को आचमन, मीठो कहत सराहि।
चुप करि रे गन्धी चतुर, अतर दिखावत काहि ॥३१॥
कनक कनक तें सौगुनी, मादकता अधिकाय।
वहि खाये बौराय जग, यहि पाये बौराय ॥३२॥
बड़े न हूजै गुनन बिन, बिरद बड़ाई पाय।
कहत धतूरै सों कनक, गहनो गढ़ो न जाय ॥३३॥
या अनुरागी चित्त की गति समझै नहिं कोय।
ज्यों ज्यों बूड़ै श्याम रँग, त्यों त्यों उज्जल होय ॥३४॥
दीरघ साँस न लेइ दुख, सुख साईं मति भूल।
दई दई क्यों करत हैं, दई दई सु कबूल ॥३५॥
थोरेई गुन रीझते, बिसराई वह बानि।
तुमहू कान्ह मनो भये, आज काल के दानि ॥३६॥
अरे हंस या नगर में, जैयो आप बिचारि।
कागन सो जिन प्रीति कर, कोयल दई बिड़ारि ॥३७॥

१३—भूषण

वीर रस के प्रसिद्ध कवि भूषण का जन्मकाल सम्वत् १६७० है। यह उपाधि इतनी प्रसिद्ध हुई कि वास्तविक नाम तो लुप्त हो गया और ये भूषण ही कहलाने लगे।

जब समस्त कवि श्रृंगार रस की कविता लिख रहे थे और नायिकाओं के नखशिख-वर्णन में मस्त थे, तब भूषण ने वीर रस का शंख फूंका। यह विशेषता उन्हें हिन्दी के रीतिकालीन कवियों से अलग खड़ा कर देती है।

भूषण के लिखे हुए छः ग्रन्थ बताए जाते हैं—'शिवराज-भूषण', 'शिवा-बावनी', 'छत्रसाल-दशक', 'भूषण उल्लास', 'दूषण उल्लास' और 'भूषण हजारा'। प्रथम तीन ग्रन्थ प्रामाणिक माने जाते हैं। अन्तिम तीन की प्रामाणिकता में सन्देह है। 'शिवराज-भूषण' अलंकार-ग्रन्थ है।

दो चार श्रृंगार के छंद भी भूषण के मिलते हैं, किन्तु उनकी आत्मा तो वीर रस में ही रमी थी। इनकी भाषा यद्यपि ब्रजभाषा है, तथापि शब्दों को इतना तोड़ा-मरोड़ा गया है कि उसमें अव्यवस्था आ गई है। उसमें संस्कृत शब्दों के साथ फारसी और अरबी के शब्द भी मिल गए हैं। बुन्देलखंडी का तो सब से अधिक प्रभाव है। कहीं कहीं खड़ी बोली की ओर भी झुकाव दिखाई देता है।

(१)

इन्द्र जिमि जम्भ पर बाडव सुअम्भ पर,
रावण सदम्भ पर रघुकुल राज है।
पौन बारिवाह पर सम्भु रतिनाह पर,
ज्यों सहस्त्रबाह पर राम द्विजराज है॥

दावा द्रुम-दंड पर चीता मृग-झुंड पर,
भूषन वितुण्ड पर जैसे मृगराज है ।
तेज तम-अंस पर कान्ह जिमि कंस पर
त्यों मलिच्छ-बंस पर सेर सिवराज है ।।

(२)

राखी हिन्दुवानी हिन्दुवान को तिलक राख्यो
अस्मृति पुरान राखे वेद विधि सुनी मैं ।
राखी रजपूती राजधानी राखी राजन की
धरा में धरम राख्यो राख्यो गुन गुनी मैं ।।
भूषन सुकवि जीति हद्द मरहट्टन की
देस देस कीरति बखानी तव सुनी मैं ।
साहि के सपूत सिवराज समसेर तेरी
दिल्ली दल दाबि के दिवाल राखी दुनी मैं ।।

(३)

सबन के ऊपर ठाढ़ो रहिबे के जोग
ताहि खरो कियो जाय जारन के नियरे ।
जानि गैर मिसिल गुसीले गुसा धारि उर
कीन्हों ना सलाम न बचन बोले सियरे ।।
भूषन भनत महाबीर बलकन लाग्यो
सारी पातसाही के उड़ाय गये नियरे ।
तमकते लाल मुख सिवा को निरखि भये
स्याह मुख नौरंग सिपाह मुख पियरे ।।

(४)

ऊंचे घोर मन्दिर के अन्दर रहनवारी
ऊंचे घोर मन्दर के अन्दर रहाती हैं ।

कन्द, मूल भोग करैं—कन्द—मूल-भोग करैं
तीन बेर खाती सो तीन बेर खाती हैं।
भूखन-सिथिल अंग, भूखन, सिथिल अंग
बिजन डुलाती ते वे बिजन डुलाती हैं।
भूषन भनत सिवराज वीर तेरे त्रास
नगन जड़ाती ते वे नगन जड़ाती हैं॥

(५)

सोंधे को अधार किसमिस जिनको अहार
चारि को सों अंक लंक चन्द सरमाती हैं।
ऐसी अरि-नारी सिवराज वीर तेरे त्रास
पायन में छाले पर कन्द-मूल खाती हैं॥
ग्रीषम तपति एती तपती न सुनी कान
कंज कैसी कली बिनु पानी मुरझाती हैं।
तोरि तोरि आछे से पिछौरा सों निचोरि
मुख कहैं 'अब कहाँ पानी मुकतौ में पाती हैं''।

(६)

वेद राखे विदित पुरान राखे सारयुत
राम नाम राख्यो अति रसना सुघर मैं।
हिन्दुन की चोटी रोटी राखी है सिपाहिन की,
काँधे में जनेऊ राख्यौ माला राखी गर मैं।
मीड़ि राखे मुगल, मरोड़ि राखे पातसाह
बैरी पीसि राखे, वरदान राख्यौ कर मैं।
राजन की हद्द राखी, तेग बल सिवराज
देव राखे देवल, स्वधर्म राख्यो घर मैं॥

१४—देव

देवदत्त उपनाम देव कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनका जन्म सं० १७३० में हुआ था। बाल्यकाल में ही इन्होंने कविता करना आरम्भ कर दिया था। इनका देहान्त सं० १८२५ के आसपास ही हुआ था। इनके स्व-रचित ग्रन्थों की संख्या ५२ से लेकर ७२ तक कही जाती है। किन्तु प्राय: पन्द्रह या बीस ग्रन्थ ही उपलब्ध हैं। इनमें से 'भाव-विलास', अष्टयाम', 'जाति-विलास', 'रस-विलास', 'शब्द-रसायन' और 'सुख-सागर-तरंग' प्रसिद्ध हैं।

इनकी भाषा सुन्दर ब्रजभाषा है। इन्होंने लोकोक्तियों का अच्छा प्रयोग किया है। इनकी उपमायें अत्यन्त सुन्दर हैं।

यद्यपि आरम्भ में इनकी रुचि नायिका-भेद तथा शृंगार-रसपूर्ण कविता की ओर ही अधिक थी, किन्तु पीछे से इन्होंने अन्य विषयों में भी रुचि दिखाई। इनकी कविता में पाण्डित्य की स्पष्ट छाप है। सम्भवत: इनके दार्शनिक विचारों से परिपूर्ण कवित्त इनकी प्रारंभिक रचनाएँ नहीं हैं। इनकी रचनाओं में भाव और भाषा दोनों ही उच्चकोटि की हैं। अलंकारों का प्रयोग भी अच्छा किया गया है। इनकी कविता की उत्कृष्टता ने इन्हें रीतिकालीन कवियों में ऊँचा स्थान दिलाया है।

इनकी तुलना प्राय: केशव और अधिकतर बिहारी से की जाती है। मिश्रबन्धुओं ने तो इन्हें हिन्दी के नवरत्नों में भी तीसरा स्थान दिया है। जो हो यह रीति कालीन कवियों में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

देव जू जो चित चाहिए नाह तो नेह निबाहिये देह हरयो परै।
जो समझाइ सुझाइये राह अमारग में पग धोखे धरयो परै॥

जीके मैं नीके ह्वै आँसू भ रोकत ऊँचे उसाँस गरयो क्यों भर्‌यो परै।
रावरो रूप पियो अँखियान भरयो सो भरयो उवरयो सो ढरयो परै।।
जाके न काम न क्रोध विरोध न लोभ छुवै नहिं छोभ को छाहों।
मोह न जाहि रहै जग बाहिर मोल जवाहर ता अति चाहों।।
बानी पुनीत ज्यों देव धुनी रस आरद सारद के गुन गाहों।
सील ससी सविता छविता कविताहि रचै कवि ताहि सराहों।।
बारे बड़े उमड़े सव जैवे को तौन तुम्हें पठवो वलिहारी।
मेरे तो जीवन देव यही धनु या व्रज पाई मैं भीख तिहारी।।
जाने न रीति अथाइन की नित गाइनि मैं वन-भूमि विहारी।।
याहि कोऊ पहिचानै कहा कछु जानै कहा मेरो कुंजविहारी।।
प्रेम-पयोधि परो गहिरे अभिमान को फेन रह्यो गहिरे मन।
कोप तरंगनि सों वहिरे पछिताय पुकारत क्यों वहिरे मन।।
देव जू लाज-जहाज तें कूदि रह्यो मुख मूँदि अजौं रहिरे मन।।
जोरत तोरत प्रीति तुही अब तेरी अनीति तुही सहिरे मन।।

ऐसो जो हौं जानतो कि जैहै तू विषै के संग
एरे मन मेरे, हाथ पाँव तेरे तोरतो।
आजु लौ हौं कत नर नाहन की नाहिं सुनि,
नेह सों निहारि हारि वदन निहारतो।।
चलन न देतो 'देव' चंचला अचल करि,
चाबुक चितावनीन मारि मुँह मोरतो।।
भारी प्रेम-पाथर नगारो दै गरे सो बाँधि,
राधा वर-विरुद के बारिधि में बोरतो।।

को हमको तुमसे तपसी बिन जोग, सिखावन आइ है ऊधी।
पै अब एही कहौ उनको पिछली सुधि आवति है कबहूँ धौ।।

एक कलो भई भूल गए तिन्हैं भूल गए दधि-माखन दूधौ;
कूबरी सी अति सूधो बधू वह पायो भलो घनस्याम सो सूधौ ।।

जब ते कुँवर कान्ह, रावरी कला-निधान,
कान परी वाके कहूँ सुजस कहानी सी ।
तब ही ते 'देव' देखो देवता-सो, हँसति-की,
खोझति-सी, रीझति-सी, रूसति-रिसानी सी ।।
छोही-सी, छलो-सी छोरिलीनी-सी, छकी सी छीन,
जकी-सी, टकी-सी, लागी थकी थहरानी-सी,
वोधो-सी, बधी-सी, विषबूड़ी-सी, बिमोहित-सी,
वैठी वह बकति बिलोकति बिकानी-सी ।।

रीझि रीझि, रहसि-रहसि, हँसि-हँसि उठैं,
साँसैं भरि, आँसू भरि, कहत दई-दई ।
चौंकि-चौंकि चकि-चकि, उचकि-उचकि देव,
जकि-जकि, बकि-बकि परत बई-बई ।।
दुहुन को रूप गुन दोऊ बरनत फिरें,
घर न थिरात रीति नेह की नई-नई ।
मोहि-मोहि मोहन को मन भयौ राधिकामय,
राधा-मन मोहि मोहि मोहन मई-मई ।।

जी न जी में प्रेम तब कीजै व्रत-नेम जब,
कंज-मुख भूलै तब संजम बिसेखिये ।
आस नहीं पी की तब आसन ही बाँधियत,
सासन कै सासन को मूँदि पति पेखिये ।।
नख ते सिखा लौं सब स्याममई बागमई,
बाहिर और भीतर न पूजो 'देव' लेखियो ।
जोग करि मिलैं जो वियोग होय बालम जु
ह्याँ न हरि होंय तब ध्यान धरि देखिये ।।

सूनो कै परम पद ऊनो कै अनंत मद,
पूनो कै नदीस नद इंदिरा झुरै परी ।
महिमा मुनीसन की, संपति दिगीसन की,
ईसन की सिद्धि व्रज वीथि-बिथुरै परी ।।
भादौं की अँधेरी अधिरात मथुरा के पथ,
पाय के सँजोग 'देव' देवकी दुरै परी ।
पारावार पूरन अपार परब्रह्म रासि
जसुदा के कोरै एक बारही कुरै परी ।।

१५—वृन्द

इनका जन्मकाल १७४२ के आसपास माना जाता है। इन्होंने लगभग १७६१ में 'वृन्द-विनोद-सतसई' लिखी। इनके अन्य ग्रन्थ 'भाव-पंचासिका' एवं 'शृंगार-शिक्षा' हैं। 'वृन्द सतसई' सात सौ दोहों का नीतिसम्बन्धी ग्रन्थ है। यह औरंगजेब के दरबारी कवि थे। औरंगजेब के पोते अजीमुश्शान की इन पर विशेष कृपा थी। इनके नीतिविषयक शिक्षापूर्ण दोहे अत्यन्त सरल भाषा में लिखे गए हैं। प्रचार की दृष्टि से भी यह अत्यन्त लोकप्रिय हैं। भाषा सरल होते हुए भी इनके दोहे मर्मस्पर्शी और चुभते हुए हैं। समयानुकूल उनका प्रयोग भी अच्छे ढंग से किया जा सकता है। नगर और गांवों में ये दोहे समानरूप से ही जनप्रिय हैं।

जो जाको गुन जानही, सो तिहिं आदर देत।
कोकिल अंबहि लेत है, काग निबौरी हेत ॥१॥

जाही ते कछु पाइये, करिये ताकी आस।
रीते सरवर पै गये, कैसे बुझत पियास ॥२॥

गुन ही तऊ मँगाइये, जो जीवन सुख भौन।
आग जरावत नगर तऊ, आग न आनत कौन ॥३॥

कैसे निबहै निबल जन, कर सबलन सों बैर।
जैसे बस सागर विषे, करत मगर सों बैर ॥४॥

दीबो अवसर को भलो, जासों सुधरै काम।
खेती सूखे बरसिबो घन को कौने काम ॥५॥

अपनी पहुँच विचारि कै, करतव करिये दौर ।
तेते पाँव पसारिये, जेती लाँबी सौर ॥६॥
विद्याधन उद्यम बिना, कहौ जु पावै कौन ।
बिना डुलाये न मिले, ज्यों पंखा की पौन ॥७॥
ओछे नर की प्रीति की, दीनि रीति बतलाय ।
जैसे छीलर ताल जल, घटत घटत घट जाय ॥८॥
बुरे लगत सिख के बचन, हिये विचारो आप ।
करुवी भेषज विन पिये, मिटै न तन की ताप ॥९॥
गुरुता लघुता पुरुप की, आश्रय वशतें होय ।
करी वृंद में विंध्य सों, दर्पन में लघु सोय ॥१०॥
रहे समीप बड़ेन के, होत बड़ो हित मेल ।
सबहि जानत बढ़त है, वृक्ष बराबर बेल ॥११॥
फेर न ह्वैहै कपट सों, जो कीजे ब्यौपार ।
जैसे हाँडी काठ की, चढ़ै न दूजी बार ॥१२॥
करिये सुख को होत दुख, यह कहो कौन सयान ।
वा सोने को जारिये, जासों टूटे कान ॥१३॥
नयना देत बताय सब, हिय कौ हेत अहेत ।
जैसे निर्मल आरसी, भली बुरी कहि देत ॥१४॥
अति परचै ते होत है, अरुचि अनादर भाय ।
मलयागिरि की भीलनी, चंदन देति जराय ॥१५॥
हितहू की कहिये न तिहि, जो नर होय अबोध ।
ज्यो नकटे को आरसी, होत दिखाये क्रोध ॥१६॥
सबै सहायक सबल के, कोउ न निबल सहाय ।
पवन जगावत आग को, दीपहिं देत बुझाय ॥१७॥
रोष मिटे कैसे कहत, रिस उपजावन बात ।
ईंधन डारे आग मों, कैसे आग बुझात ॥१८॥

दुष्ट न छाँडे दुष्टता, कैसे हूँ सुख देत ।
धोये हूँ सौ बेरके, काजर होत न सेत ॥१९॥
जैसे बंधन प्रेम को, तैसो बंध न और ।
काठहि भेदै कमल को, छेद न निकरै भौंर ॥२०॥
जे चेतन ते क्यों तजैं, जाको जासों मोह ।
चुंबक के पीछे लग्यो, फिरत अचेतन लोह ॥२१॥
मूरख गुन समझै नहीं, तौन गुनी में चूक ।
कहा घट्यो दिन को विभौ, देखै जौ न उलूक ॥२२॥
करै बुराई सुख चाहै, कैसे पावै कोइ ।
रोपै बिरवा आक को, आम कहाँ ते होइ ॥२३॥
बहुत निबल मिल बल करैं, करैं जु चाहैं सोय ।
तिनकन की रसरी करी, करी निबंधन होय ॥२४॥
साँच-झूँठ निर्णय करै, नीति-निपुन जो होय ।
राजहंस बिन को करै, छीर-नीर को दोय ॥२५॥

१६—सहजोबाई

यह राजपूताना के ढूसर कुल की महिला थीं। इनका जन्मकाल ठीक ठीक ज्ञात नहीं होता है, किन्तु इनके गुरु चरनदास जी का जन्मकाल १७६० विक्रमी संवत् है, अतः इसके आसपास ही इनका भी जन्मकाल रहा होगा। इन्होंने अपना परिचय इस प्रकार दिया है:—

हरिप्रसाद की सुता, नाम है सहजो बाई।
ढूसर कुल में जन्म, सदा गुरु चरन सहाई।।

इनकी कविता से स्पष्ट होता है कि यह अपने गुरु पर बहुत भक्ति रखती थीं। यह स्वभाव से ही सात्विक प्रकृति की थीं। इनकी रचनाएँ अत्यन्त मधुर एवं भावपूर्ण हैं। भक्ति ही इनका मुख्य लक्ष्य था।

जब चेतै जब ही भला, मोह नींद सूँ जाग।
साधू की संगत मिलै, सहजो ऊँचे भाग।।
दीर्घ बुद्धि जिनकी महा, सील सदा ही नैन।
चैतनता हिरदै बसै, सहजो सीतल बैन।।
साधू बृक्ष बानी कली, चर्चा फूले फूल।
सहजो संगत बाग में, नाना फल रहे झूल।।
बैठ बैठ बहुतक गये, जग तरवर की छाँहि।
सहज बटाऊ बाट के, मिलि मिलि बिछुड़त जाँहि।।
सीस कान मुख नासिका, ऊँचे ऊँचे नाँव।
सहजो नीचे कारने, सब कोउ पूजै पाँव।।

भलो गरीबी नवनता, सकै न कोई मार ।
सहजो रुई कपास की, काटै ना तरवार ॥
मैं अखण्ड व्यापक सकल, सहज रहा भरपूर ।
ज्ञानी पावे निकट ही, मूरख जानै दूर ॥
जोगी पावै जोग सूँ, ज्ञानी लहै विचार ।
सहजो पावै भक्ति सूँ, जाके प्रेम अधार ॥
सील छिमा सन्तोष गहि, पाँचों इन्द्री जीत ।
राम नाम ले सहजिया, मुक्ति होन की रीत ॥
ब लग चावल धान में, तब लग उपजै आय ।
जग छिलके कूँ तजि निकस, मुक्तिरूप ह्वै जाय ॥

१७–पद्माकर

रीतिकालीन कवियों में बिहारी के बाद पद्माकर ही सबसे लोकप्रिय कहे जा सकते हैं। अपनी सुन्दर रचानाओं के लिए यह विख्यात थे। इनका जन्म सम्वत् १८१० में बाँदे में हुआ था।

ये अनेक स्थानों में घूमते रहे और सितारा, जयपुर, ग्वालियर और बूंदी आदि के महाराजाओं ने इनका बहुत सम्मान अिया। हिम्मत बहादुर-विरुदावली, जगद्विनोद, पद्माभरण, प्रबोध-पचासा, राम-रसायन आदि इनके रचे हुए ग्रन्थ हैं। इनकी रचनाएँ बहुत भावपूर्ण और सरस हैं।

भाव-व्यञ्जन, में यह मौलिक कवि कहे जा सकते हैं। भिन्न-भिन्न हावों और भावों का जैसा सुन्दर वर्णन इनकी मधुर भाषा में हुआ है, वैसा अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। नायिका-निरूपण, नख-शिख-वर्णन, रमणी-सौन्दर्य-चित्रण इनके मुख्य विषय थे।

इन्होंने अपनी कविता में सौन्दर्य के बहुत उत्तम चित्र अंकित किये हैं। स्त्रियों के नख-शिख-वर्णन के अतिरिक्त नायिका-भेद भी इनका अद्वितीय है। इनकी कविता में शृंगार, भक्ति तथा वीर तीनों रसों का वर्णन पाया जाता है।

इनकी भाषा बुन्देलखंडी मिश्रित ब्रजभाषा है। उर्दू के तद्भव शब्दों का भीप्र योग किया गया है, जो कि तत्कालिक परिस्थति के अनुसार स्वाभाविक ही था। ब्रजभाषा के ग्रामीण शब्दों का प्रयोग भी है। शब्दों के विकृत रूप प्रायः पाये जाते हैं, जो कि इनकी अलंकार-प्रियता के कारण आये हैं।

(१)

देखु पद्माकर गुर्विद की अमित छवि
शंकर समेत विधिआनँद सो बाढ़ो है ।
झिझकत, झूमत मुदित, मुसुकात गहि
अंचल को छोर दोऊ हाथन सों, आढ़ो है ।
पटकत पाँव, होत पैंजनी झनुक रच,
नेक-नेक नैनन में नीर कन काढ़ो है ।
आगे नन्दरानी के तनिक पय पीये काज
तीन लोक ठाकुर सो ठुनकत ठाढ़ो है ।

(२)

फूलन-में, केलि में, कछारन में, कुंजन में,
क्यारिन में कलित-कलीन किलकंत है ।
कहै पद्माकर परागन में, पौन हू में,
पानन में पीक में पलासन पगंत है ।
द्वार में, दिसान में, दुर्ग में देस-देसन में
देखो दीप-दीपन में दीपत दिगन्त है ।
वीथिन में, व्रज में नवेलिन में, वेलिन में
बनन में, बागन में बगर्यो बसंत है ।

(३)

मीनागढ़ बम्बई सुमन्द महाराज बंग
बंदर को बंद करि बंदर बसावैगो ।
कहै पद्माकर कसकि कासमीरहू को
पिंजर सो घेरि कैं कलिंजर छुड़ावैगो ।
बाँका नृप दौलत अलीजा महाराज कबौं
साजि दल पकरि फिरंगिन दबावैगो ।

दिल्ली दहढ़ि पटना हू को झपट्टि करि
कबहुक लता कलकत्ता को उठावैगो ।

(४)

टप्पे की टकोर टक्करन की तड़ातड़ित
माचै जब कूरम करिंदों की लड़ालड़ी ।
कहै पद्माकर झपट्ट की झड़ाझड़ में
सुण्डों की सड़ासड़ भुसुण्डों की भड़ाभड़ी ।
मस्ती की भड़ाभड़ जड़ाजड़ जंजीरन की
पत्रों की पड़ापड़ गरज्जों की गड़ागड़ी ।
धक्को की धड़ाधड़ अड़ंग की अड़ाअड़ में
त्वै कड़ाकड़ मुदन्तों की कड़ाकड़ी ।।

(५)

जैसे तैं न भोसो कहूँ नेकहू न डरात हुतो,
तैसे अब तोसो हौं हूँ नेकहू न डरिहौं ।
कहै पद्माकर प्रचंड जौ परैगो तौ,
उमंडि करि तोसों भुजदंड ठोकि लरिहौं ।
चले-चलु चलो विचलु न बीच ही तें,
कीच-बीच नीच तो कुटुम्ब की कचरिहौं ।
एरे दगादार मेरे पातक अपार तोहि,
गंगा की कछार में पछार छार करिहौं ।।

(६)

आस करि आयो हुतो मैया पास रावरे मैं
गाढ़ हू के पास दुख दूरिबुटि बुटिगे ।
कहै पद्माकर कुरोग से संघाती तेऊ,
गैल में चलत धूमि धूमि घुटि-घुटिगे ।

दगादार दोष दोन्ह दारिद बिलाइ गये,
फिकिर के फन्द बिन छोरे छुटि छुटिगे ।
जौं लौ आउं-आउँ तेरे तीर पर गंगा तौ लौं,
बीचही में मेरे पाप-पुंज लुटि लुटि गे ॥

(७)

गंगा के चरित्र लखि भारुयौ जमराज यह
एरे चित्रगुप्त मेरे हुक्म में कान दै ।
कहै 'पद्माकर' नरक सब मूंदि करि,
मूंदि दरवाजन को तजि यह थान दै ।
देखु यह देवनदी कीन्हें सब देव, यातें,
दूतन बुलाइ कै बिदा के वेगि पान दै ।
फारि डारु फरद न राखु रोज-नामा कहूँ,
खाता खति जान दै, वही को वहि जान दै ॥

१८–भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

आधुनिक काल के प्रवर्तक भारतेन्दु बाबू हरिचन्द्र का जन्म बंगाल के इतिहासप्रसिद्ध सेठ अमीचन्द के वंश में भाद्रपद शुक्ला सप्तमी सम्वत १९०७ में काशी में हुआ था। अभी ये नौ ही वर्ष के थे कि इनके पिता का स्वर्गवास हो गया। सारे घर का भार इन्होंने के ऊपर आ पड़ा। पढ़ने का काम ज्यों-त्यों करके तीन चार वर्ष तक चला। तत्पश्चात् इनकी रुचि कविता और देश-भक्ति की ओर फिरी। अपनी ३४ वर्ष की अल्पायु में इन्होंने १७५ ग्रन्थ लिखे। इन ग्रन्थों में नाटक, कहानी, कविता, निबन्ध, इतिहास आदि प्रत्येक विषय हैं। इन्होंने 'कवि वचनसुधा' नामक एक पाक्षिक पत्र भी निकाला था।

भारतेन्दु जी को सब से बड़ी विशेषता यह थी कि इन्होंने गद्य की भाषा खड़ी बोली के साथ-साथ पद्य की भाषा ब्रज-भाषा का भी परिष्कार किया। कवित्त और सवैया में प्रयुक्त होने वाले बहुत से अप्रचलित शब्दों को (जैसे भुवाल, दीह, ऊनों, लोय, आदि) उन्होंने निकाल फेंका। ब्रज-भाषा के कवि शब्दों की तोड़-मरोड़ करने और मनगढ़न्त शब्द रखने के आदी थे। इस प्रवृत्ति को भी इन्होंने समाप्त कर दिया। कविता को भाषा से इन दोनों दोषों को दूर कर इन्होंने बोल-चाल की ब्रज-भाषा का प्रयोग किया, जिसके कारण इनकी कविता शीघ्र लोकप्रिय हो गई।

भारतेन्दु बाबू हरिचन्द्र की कविता में प्राचीन और नवीन का समन्वय मिलता है। यदि वे कभी भक्ति और शृंगार की कविता लिखकर प्राचीन कवियों की परम्परा में पहुँच जाते हैं तो देश भक्ति तथा समाज

सुधार की भावनाओं को वाणी देकर नये कवियों का नेतृत्व करते हुए दिखाई देते हैं। वे सच्चे प्रेमी हृदय थे।

भारतेन्दु की कविता में सब से बड़ा तत्व देश भक्ति का है। प्रकृति-वर्णन भी इन्होंने किया है, लेकिन उसमें इन का मन रमा नहीं, या तो उपमा-उत्प्रेक्षा की झड़ी बाँध देते हैं या केवल नाम गिना देते हैं।

सम्वत् १९४२ में आपने इस नश्वर संसार को छोड़ दिया।

हाय !
सोई भारत भूमि भई सब भाँति दुखारी।
रह्यो न एकहु बीर सहस्रन कोस मँझारी॥
होत सिंह को नाद जौन भारत बन माहीं।
तहँ अब ससक सियार स्वान खर आदि लखाहीं॥
जहँ झूसी उज्जैन अवध कन्नौज रहे बर।
तहँ अब रोअत सिवा चहूँ दिसि लखियत खँडहर॥
धन विद्या बल मान बीरता कीरति छाई।
रही जहाँ तित केवल अब दीनता लखाई॥

(२)

चेत चेत रे सोवनवाले सिर पर चोर खड़ा है।
सारी बैस बीत गई अब भी मद में चूर पड़ा है॥
महि अपमान स्वान-सम निरलज जग के द्वार खड़ा है।
जग याद उस समय की भी कर सबमें जौन कड़ा है॥
देखु न पाप नरक में तेरा जीवन जनम सड़ा है।
'हरीचंद' अब तो हरि-पद भज क्यों जग कीच गड़ा है॥

(३)

सुनौ सखि बाजत है मुरली।
जाके नेकु सुनत ही हिय में उपजत बिरह-कली॥

जड़ सम भए सकल नर-खग-मृग लागत स्रवन भली ।
'हरीचंद'की मति रति गति सब धारत अधर छली ।।

(४)

पथिक की प्रीति को का परमान ।
रैन बसे इत भोर चले उठि भरि नैन को बान ।।
ये काहूँ के भये न होयँगे स्वारथ लोभी जान ।
'हरीचंद' इनकै फन्दन परि वृथा गँवैये प्रान ।।

(५)

जय जय गिरवर-धरन जयति श्री नवनीत-प्रिय ।
जयति द्वारिकाधीश जयति मथुरेश माल हिय ।।
जय जय गोकुलनाथ मदनमोहन पिय प्यारे ।
जय गोकुल-चन्द्रमा सु बिट्ठलनाथ दुलारे ।।
श्री बालकृष्ण नटवर नवल श्रीमुकुन्द दुख-द्वंद्व-हर ।
स्वामिनि सह ललित त्रिभंग गोपाललाल जय जयति वर ।।

१६—श्री जगन्नाथ दास 'रत्नाकर'

रत्नाकर जी का जन्म सम्वत् १९२३ में हुआ था। इनके पिता का नाम बा० पुरुषोत्तम दास [अग्रवाल था जो बड़े काव्य-रसिक थे। रत्नाकर जी ने बी०ए० की उपाधि प्राप्त करने के पश्चात् आवागढ़ राज्य में नौकरी की फिर अयोध्या के राजा सर प्रताप नारायण सिंह के और उनके मरने पर उनकी धर्मपत्नी के प्राइवेट सेक्रेटरी रहे। इस पद पर रहकर उन्होंने अच्छी समृद्धि प्राप्त की थी। आपने सम्वत् १९८७ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति का आसन सुशोभित किया था।

रत्नाकर जी ने केवल ब्रजभाषा में कविता की है। उनकी कविता पुरानी पद्धति पर चलती हुई भी अत्यन्त सरस और ओजपूर्ण है। उसकी भाषा मँजी हुई, रोचक और मधुर है। अपने समय में ब्रज-भाषा के सबसे बड़े कवि समझे जाते थे। उन्होंने 'गंगावतरण' 'हरिश्चन्द्र' 'उद्धव-शतक' 'समालोचनादर्श' 'शृंगार-लहरी' 'विष्णु लहरी' 'रत्नाष्टक' 'वीराष्टक' आदि काव्यों के अतिरिक्त बहुत अधिक संख्या में फुटकर छन्दों की रचना की थी।

रत्नाकर जी ने प्राचीन काव्यों का सम्पादन भी किया है, जिनमें 'हित तरंगिणी' 'हम्मीरहठ' 'कंठाभरण' और 'विहारी रत्नाकर' नाम से से विख्यात विहारी की सतसई विशेष उल्लेख योग्य हैं। बा० जगन्नाथ दास जी की उपर्युक्त सभी कविताओं का संग्रह काशी नागरी प्रचारिणी सभा के द्वारा 'रत्नाकर' नाम से बहुत सजधज के साथ निकला है। हमारी सम्मति में 'उद्धव-शतक' आपका सर्वश्रेष्ठ काव्य है।

उद्धव शतक

(उद्धव के प्रति गोपियों का वचन)

रस के प्रयोगन के सुखद सुजोगनि के
जेते उपचार चार मंजु सुखदाई हैं ।
तिनके चलावन की चरचा चलावे कौन
देत ना सुदर्सनहूँ यों सुधि बिसराई हैं ।।
करत उपाय न सुभाय लखि नारिन को
भाय क्यों अनारिन को भरत कन्हाई हैं ।
ह्याँ तो बिसम ज्वर बियोग की चढ़ाई यह
पाती कौन रोग की पठावत दवाई हैं ।।

ऊधौ कहौ सूधो सो सँदेस पहिले तो यह
प्यारे परदेस तें कबैं धों पग धारि हैं ।
कहैं 'रत्नाकर' तिहारी परि बातिन में
मीड़ि हम कबलों करे जों मन मारि हैं ।।
लाइ लाइ पाती छाती कब लौं सिरैहैं हाय
धरि धरि ध्यान धीर कब लगि धारि हैं ।
बैंननि उचारिहैं उराहनों कबै धौं सबे
स्याम को सलोनो रूप नैननि निहारे हैं ।।

षटरस-व्यंजन तौ रंजन सदा ही करैं
ऊधौ नवनीत हू सप्रीत कहूँ पावैं हैं ।
कहै 'रत्नाकर' बिरद तो बखानैं सबै
साँची कहौं केते कहि लालन लड़ावैं हैं ।।
रतन सिंहासन बिराज पाकसासन लौं
जग चहुँ पासिन तौ सासन चलावैं हैं ।
जाइ जमुना तट पर कोऊ बट छाँह माँहि
बाँसुरी उमाहि कबौं बाँसुरी बजावैं हैं ।।

कान्ह-दूत कैधों ब्रह्म-दूत ह्वै पधारे आप
धारे प्रन फेरन को मति ब्रजवारी की ।
कहै 'रत्नाकर' पै प्रीत-रीति जानत ना
ठानत अनीति आनि नीति लै अनारी की ।।
मान्यो हम, कान्ह ब्रह्म एक ही, कहो जो तुम,
तोहूँ हमें भावति न भावना अनारी की ।
जैहे बनि बिगर न वारिधिता वारिध की
बूंदता बिलैहे बूंद बिवस विचारी की।।
चोप करि चंदन चढ़ायौ जिन अंगनि पै
तिनपै बजाइ तूरि धूरि दरिबौ कहौ ।।
रस-रत्नाकर सनेह निखर्‌यौ जाहि
ता कच कौं हाय जटाजूट बरिबौ कहौ ।।
चंद अरविन्द लौं सराहौ ब्रज-चन्द जाहि
ता मुख को काक चंचुवत करिबौ कहौ ।
छेदि छेदि छाती छलनी कै बैन बानिन सों
तामें पुनि ताइ घोर घोर धरिबौ कहौ ।।

२०—अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

उपाध्याय जी हिन्दी काव्य के प्राचीन और नवीन युग के सन्धि-काल के प्रतिनिधि थे। इनका काव्य प्राचीन और नवीन—दोनों छोरों को स्पर्श करता है। इन्होंने ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों में कविता की है। इनकी प्रारम्भिक रचानाएँ उर्दू के छन्दों से प्रभावित थी, किन्तु बाद में धीरे-धीरे ये संस्कृत के छन्दों की ओर प्रवृत्त हुए। इनकी अमर कृति 'प्रियप्रवास' में संस्कृत शब्दों की प्रचुरता है और छन्द भी प्रायः संस्कृत से लिये गये हैं। प्रियप्रवास के कृष्ण प्राचीन होते हुए भी आधुनिकता लिये हुए हैं। वास्तव में संस्कृत छन्दों के लिए संस्कृत शब्दों की भरमार स्वाभाविक ही थी। 'प्रियप्रवास' के बाद की रचनाओं में इनकी शैली बहुत कुछ बदल गई है। 'वैदेही-वनवास' में इनके कवि-हृदय ने करुण वेदना का आत्मविभोर होकर गान किया है।

उपाध्याय जी का जन्म सम्वत् १९२२ में निजामाबाद जिला आजमगढ़ में हुआ था, इनके पिता का नाम पं० भोलानाथ उपाध्याय था। आप साधारण शिक्षा के बाद क्वीन्स कालेज बनारस में प्रविष्ट हुए, किन्तु स्वास्थ्य अच्छा न रहने के कारण शीघ्र छोड़ना पड़ा। अंग्रेजी, उर्दू, फारसी, हिन्दी और बँगला—इन भाषाओं का इन्होंने बड़े परिश्रम से अध्ययन किया। ३३ वर्ष तक इन्होंने सरकारी कानूनगोई की नौकरी की। इसके साथ-साथ निरंतर काव्य-साधन में भी लगे रहे। पेन्शन-प्राप्ति के बाद काशी विश्वविद्यालय में हिन्दी प्रोफेसर के सम्मानित पद पर नियुक्त हुए और वहाँ कई वर्षों तक हिन्दी सेवा का कार्य करते रहे।

प्रियप्रवास, चुभते-चौपदे, चोखे-चौपदे, बोल-चाल, पद्य-प्रसून, कल्पलता, वैदेही-वनवास आदि इनकी अनेक काव्य रचानाएँ प्रसिद्ध हैं।

प्रिय प्रवास

द्वादश सर्ग

मन्दाक्रान्ता छन्द

ऊधो से यों स-दुख जब थे भाखते गोप बातें।
आभीरों का यक-दल-नया वाँ उसी-काल आया।
नाना-बातें बिलख उसने भी कहीं खिन्न हो हो।
पीछे प्यारा-सुयश स्वर से श्याम का यों सुनाया॥

द्रुतविलम्बित

सरस-सुन्दर-सावन-मास था,
घन रहे नभ में घिर घूमते।
बिलसती बहुधा जिन में रही,
छविवती उड़ती बक-मालिका॥२॥

घहरता गिरि-सानु समीप था,
बरसता छिति नव-वारि था।
घन कभी रवि-अंतिम-अंशु ले,
गगन में रचता बहु-चित्र था॥३॥

नव-प्रभा परमोज्वल-लोक सी,
गतिमती कुटिला फिणनी सभा।
दमकती दुरती घन-अंक में,
विपुल केलि-कला-खनि दामिनी॥४॥

विविध-रूप धरे नभ में कभी,
विहरता वर-वारिद-व्यूह था।

वरसता बहु-पावन-वारि था,
वह कभी सरसा करके रसा ॥५॥
सलिल-पूरित थी सरसी हुई,
उमड़ते पड़ते सर-वृन्द थे ।
कर सु-प्लावित कूल समस्त को,
सरित थी स-प्रमोद प्रवाहिता ॥६॥
वसुमती पर थी अति-शोभिता,
नवल-कोमल-श्याम-तृणावली ।
नयन-रंजन थी करती महा,
अनुपमा-तरु-राजि-हरीतिमा ॥७॥
हिल, लगे मृदु-मन्द-समीर के,
सलिल-विन्दु गिरा मुठि अंक से ।
मन रहे किसका न विमोहते,
जल-धुले दल पादप-पुंज के ॥८॥
विपुल-मोर लिए बहु-मोरिनी,
विहरते सुख से स-विनोद थे ।
जटिल-नीलम पुच्छ-प्रभाव से,
मणि-मयी करके वन-मेदिनी ॥९॥
वन प्रमत्त-समान पपीहरा,
पुलक के उठता कह पी कहाँ ।
लख वसंत-विमोहिनि मंजुता,
उमग कूक रहा पिक-पुंज था ॥१०॥
स-रव पावन-भूत-प्रताप जो,
सलिल में कहते बहु-भेक थे ।
विपुल-झींगुर तो थल में उसे,
धुन लगा करते नित गान थे ॥११॥

सुखद-पावस के प्रति सर्व की,
प्रगट सी करती अति-प्रीति थीं ।
वसुमती अनुराग-स्वरूपिणी,
विलसती-बहु-बीर-बहूटियाँ ॥१२॥
परम-म्लान हुई, बहु-बेलि को,
निरख के फलिता अति-पुष्पिता ।
सकल के उर में रम सी गई,
सुखद शासन की उपकारिता ॥१३॥
विविध-आकृति औ फल-फूल की,
उपजती अवलोक सु-बूटियाँ ।
प्रगट थी महि-मंडल में हुई,
प्रियकरी प्रतिपत्ति पयोद की ॥१४॥
रस-मयी लख वस्तु असंख्य को,
सरसता लख भूतल-व्यापिनी ।
समझ है पड़ता बरसात में,
उदक का रस नाम यथार्थ है ॥१५॥
मृतक-प्राय हुई तृण-राजि भी,
सलिल से फिर जीवित हो गई ।
फिर सु-जीवन जीवन को मिला,
बुध न जीवन क्यों उस को कहें ॥१६॥
व्रज-धरा एक वार इन्हीं दिनों,
पतित थी दुख-वारिधि में हुई ।
पर उसे अवलम्बन था मिला,
व्रज-विभूषण के भुज-पीत का ॥१७॥
दिवस एक प्रभंजन का हुआ,
अति-प्रकोप, घटा नभ में घिरी ।

बहु-भयावह-गाढ़-मसी-समा,
सकल-लोक प्रकंपित-कारिणी ॥१८॥
अशनि-पात-समान दिगन्त में,
रव विभीषण हो उठने लगा ।
कर विदारण वायु पुन पुनः,
दमकती नभ में जब दामिनी ॥१९॥
मथित चालित ताड़ित हो महा,
अति प्रचंड-प्रभजन-पुंज से ।
जलद थे दल के दल आ रहे,
घुमड़ते घिरते ब्रज घेरते ॥२०॥
तरल-तोयधि-तुंग-तरंग लौं,
निबिड़-नीरव थे घिर घूमते ।
प्रबल हो जिन की बढ़ती रही,
असितता-घनता-रवकारिता ॥२१॥
उपजती उस काल प्रतीति थी,
प्रलय के घन आ ब्रज में घिरे ।
गगन-मंडल में अथवा जमे,
जलभरे-गिरि-कज्जल कोटिशः ॥२२॥
पतित थी ब्रज-भूपर हो रही,
प्रति-घरी उर-दारिणि-दामिनी ।
असह थी इतनी गुरु-गर्जना,
सह न था सकता पवि-कर्ण भी ॥२३॥

चौपदे

प्रकृति का नीलाम्बर उतरे ।
श्वेत-साड़ी उसने पाई ॥

हटा घन-घूंघट शरदाभा ।
विहँसती महि में थी आई ॥
मलिनता दूर हुए तनकी ।
दिशा थी बनी विकच-वदना ॥
अधर में मंजु-नीलिमामया ।
था गगन-नवल-वितान तना ॥
चाँदनी छिटिक-छिटिक छवि से ।
छवीली बनती रहती थी ॥
सुधाकर-कर मे वसुधा पर ।
सुधा की धारा बहती थी ॥
कहीं थे बहे दुग्ध सोते ।
कहीं पर मोती थे ढलके ॥
कहीं था अनुपम रस बरसा ।
भव-सुधा-प्याला के छलके ॥
मंजुतम गति मे हीरक चम ।
निछावर करती जाती थी ॥
जगमगाते ताराओं में ।
थिरकती ज्योति दिखाती थी ॥
क्षिति-छटा फूली-फिरती थी ।
विपुल-कुसुमावली विकसी थी ॥
आज वैकुण्ठ छोड़ कमला ।
विकच-कमलों में विलसी थी ॥
पादपों के श्यामल दल ने ।
प्रभा पारद-सी पाई थी ॥
दिव्य हो हो नवला-लतिका ।
विभा सुर-पुर से लाई थी ॥

मंद गति से बहती नदियाँ ।
मंजु-रस मिले सरसती थीं ॥
पा गये राका-सी रजनी ।
वीचियाँ बहुत विलसती थीं ॥

किसी कमनीय-मुकुर जैसा ।
सरोवर विमल-सलिलवाला ॥
मोहता था स्वअंक में ले ।
विधु-सहित मंजुल उडुमाला ॥

शरद-गौरव नभ-जल-थल में ।
आज मिलते थे आँके-से ॥
कीर्ति फैलाते थे हिल-मिल ।
कास के फूल पताके से ॥

२१—मैथिलीशरण गुप्त

गुप्त जी वास्तविक अर्थों में भारत के राष्ट्रीय कवि हैं। इनकी रचनाओं में राष्ट्रप्रेम, राष्ट्रगौरव और राष्ट्र-महिमा की उज्ज्वल भावना बड़े वेग से प्रवाहित हुई है। देश का कण-कण गुप्त जी को बहुत प्रिय है और उन्होंने जनता के हृदय में हरएक अपनी चीज के लिए श्रद्धा और चिन्ता भरने का प्रयास किया है। वास्तव में गुप्त जी के काव्य ने राष्ट्रीय भावना को सजग करने और बनाये रखने में बड़ा सफल कार्य किया है। ये एकबार जेलयात्रा भी कर चुके हैं। हिन्दी संसार में इनकी रचनाएँ सबसे अधिक लोकप्रिय समझी गई हैं। देश ने इनके काव्य से उत्साह और स्फूर्ति प्राप्त की है। इसके बल पर देश के लड़खड़ाते हुए आदर्श मानों फिर से स्थिर हो गये हैं। भारतीय संस्कृति के इस अनन्य उपासक ने अपनी सेवाओं से हिन्दी संसार को चिर कृतज्ञ बना लिया है।

गुप्त जी का जन्म श्रावण शुक्ल द्वितीया सोमवार संवत् १९४३ को चिरगाँव जिला झाँसी में हुआ था। इनके पिता सेठ रामचरण जी को कविता से बड़ा प्रेम था और वे स्वयं भी थोड़ी बहुत कविता किया करते थे। गुप्त जी ने अधिकांश में शिक्षा घर पर प्राप्त की। हिन्दी, संस्कृत, बंगला और मराठी के ये गंभीर विद्वान हैं और अंग्रेजी का भी अच्छा परिचय रखते थे। गुप्त जी को काव्य की प्रवृत्ति पिता जी से मिली और प्रोत्साहन आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी जी से। साकेत की भूमिका में इन्होंने द्विवेदी जी के प्रति कृतज्ञता के भाव प्रकट किये हैं।

भारत-भारती, रंग में भंग, किसान, वैतालिक, स्वदेश-संगीत, हिन्दू, गुरुकुल, जयद्रथ-वध, पंचवटी, सैरंध्री, शकुन्तला, यशोधरा,

मेघनाथ-वध, पलासी का युद्ध, द्वापर, मंगल-घट, कुणाल-गीत आदि गुप्त जी की अनेक रचनाएँ हिन्दी जगत में अमर कीर्ति प्राप्त कर चुकी हैं। साकेत महाकाव्य पर इन्हें हिन्दुस्तानी एकेडेमी की ओर से ५००) का और हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ओर से १२००) का मंगला प्रसाद पारितोषिक मिल चुका है। काबा और कर्बला, और विश्व वेदना इनकी नवीन रचनाएँ हैं।

यशोधरा

(१)

"अम्ब, आ रहे हैं तात;
शान्त हों अब सारे उत्पात।
ले, अब तो रह गई 'गर्विणी गोपा' की वह लाज,
जितना रोना हो तू रो ले इनके आगे आज।
ओस तू तो ये स्वयं प्रभात!
शान्त हों अब सारे उत्पात।
माँ, तेरे अंचल-जैसी ही इनकी छाया धन्य,
पर इनका आलोक देख तो, कैसा अतुल अनन्य!
कौन आया इतनी अवदात?
शान्त हो अब सारे उत्पात।
तात! तुम्हारा तप मुखरित है, माँ का नीरव मात्र,
पर अथाह पानी रखता है यह सूखा सा गात्र।
नहीं क्या यह विस्मय की बात?
शान्त हो अब सारे उत्पात।
तुमको सिद्धि मिली है तप से, हुआ इसे क्या लाभ?
"वत्स! इष्ट क्या और इसे अब, आया जब अमिताभ?
प्रथम ही पाया तुझ सा गात!
शान्त हो अब सारे उत्पात!"

(२)

मानिनि, मान तजो लो, रही तुम्हारी बान !
दानिनि, आया स्वयं द्वार पर यह तव-तत्र भवान !
किसकी भिक्षा न लूँ कहो मैं ? मुझको सभी समान,
अपनाने के योग्य वही तो जो हैं अति-अजान ।
राजभवन के भोगों में था दुर्लभ वह जलपान,
किया राम ने गुह-शबरी से जिसका स्वाद बखान ।
शिक्षा के बदले भिक्षा भी दे न सकें प्रतिदान,
तो फिर कहो, उऋण हों कैसे वे लघु और महान ?
माना, दुर्बल ही था गौतम छिपकर गया निदान,
किन्तु शुभे, परिणाम भला ही हुआ, सुधा-सन्धान ।
क्षमा करो सिद्धार्थ शाक्य की निर्दयता प्रिय जान,
मैत्री-करुण-पूर्ण आज वह शुद्ध बुद्ध भगवान ।

साकेत

शिशिर, न फिर गिरि-वन में,
जितना माँगे पतझड़ दूँगी मैं इस निज नन्दन में ।
कितना कम्पन तुझे चाहिए, ले मेरे इस तन में ।
सखी कह रही, पाण्डुरता का क्या अभाव आनन में ?
वीर, जमा दे नयन-नीर यदि तू मानस-भाजन में,
तो मोती-सा मैं अकिंचना रक्खूँ उसको मन में ।
हँसी गई, रो भी न सकूँ मैं,—अपने इस जीवन में,
तो उत्कण्ठा है, देखूँ फिर क्या हो भाव-भुवन में ।
सखि, न हटा मकड़ी को, आई है वह सहानुभूति-वशा,
जालगता मैं भी तो, हम दोनों की यहाँ समान दशा ।

भारत-भारती

हम योग पाकर भी उसे उपयोग में लाते नहीं,
सामर्थ्य पाकर भी किसी को लाभ पहुँचाते नहीं।
जैसे बने हम दूसरों की हानि ही करते सदा,
अधिकार पाकर और भी अघ के घड़े भरते सदा।
न्यायालयों में भी निरन्तर घूस खाते हैं हमीं,
रक्षक पुलिस को भी यहाँ भक्षक बनाते हैं हमीं।
कर्तव्य का फल हम प्रजा पर बल दिखाना जानते,
हम दीन-दुखियों के रुदन को गान-सम हैं मानते।।

२२—सुभद्रा कुमारी चौहान

सुभद्रा जी हिन्दी की कवियित्रियों में अपना प्रमुख स्थान रखती हैं। क्षत्रिय होने के नाते स्वभावतः भावों में वीरता की उमंग तथा देश के प्रतिप्रेम में स-प्राणता प्रधान है। 'कर्मवीर' आपकी कविताओं का प्रथम प्रकाशन द्वार रहा है। उसके उपरान्त आपकी प्रतिभा की किरणें सारे हिन्दी जगत पर फैल गईं।

सुभद्रा जी का काव्य उनके जीवन ही का प्रतिविम्ब है। उनके काव्य विषय के मूल तत्व अपने प्रकृत रूप में पारिवारिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय जीवन से लिये गए हैं। जीवन संघर्ष में भाग लेने वाली नारी के रूप में बदली हुई परिस्थितियों के अनुकूल एक नये वातावरण एवं नवीन मानव सम्बन्धों की स्थापना पर अधिक बल दिया है। पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय स्थिति-परिस्थिति एवं मानव-सम्बन्धों पर उसके प्रभाव के अस्फुट चित्र उनकी रचनाओं में यत्र तत्र बिखरे हैं।

सुभद्रा जी को आदर दिलाने में उनकी राष्ट्रीय रचनाओं का अधिक हाथ है। 'झाँसी की रानी' का उनके नाम के साथ ऐसा सम्बन्ध हो गया है कि एक के साथ दूसरे की सुधि अनिवार्य है। इस कविता में भावना की सम्पूर्णता है तथा भाषा की सरलता के साथ-साथ एक प्रभाव पूर्णता भी है। सामान्यतया उनकी सभी रचनाओं में काव्यगत शास्त्रीय ढंग की अलंकारिक मनोरमता नहीं है वरन् उसके स्थान पर सरल भावोन्मेष की सुन्दरता है। प्रभाव अपनी गति में अपूर्व है। बड़ी से बड़ी कविता में भी शिथिलता तथा असंबद्धता नहीं आने पाती।

वे कहानी लेखिका भी हैं 'बिखरे मोती' उनका एक प्रसिद्ध कहानी संग्रह है। इस कहानी संग्रह तथा कविता संग्रह 'मुकुल' दोनों पर ही इन्हें हिन्दी साहित्य सम्मेलन का 'सेक्सरिया पारितोषिक' मिला है।

पन्द्रह फरवरी १९४८ को जबलपुर के निकट एक मोटर दुर्घटना में इनका देहान्त हो गया।

झाँसी की रानी

सिंहासन हिल उठे, राजवंशों ने भृकुटी तानी थी,
बूढ़े भारत में भी आयी फिर से नयी जवानी थी,
गुमी हुई आज़ादी की कीमत सबने पहचानी थी,
दूर फिरंगी को करने की सबने मन में ठानी थी,
चमक उठी सन सत्तावन में,
वह तलवार पुरानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुंह
हमने सुनी कहानी थी —
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसीवाली रानी थी।

कानपूर के नाना की, मुंहबोली बहन 'छबीली' थी,
लक्ष्मी बाई नाम, पिता की वह सन्तान अकेली थी,
नाना के सँग पढ़ती थी वह नाना के संग खेली थी,
बरछी ढाल, कृपाण, कटारी उसकी यही सहेली थी,
वीर शिवा जी की गाथायें
उसको याद जवानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुंह
हमने सुनी कहानी थी—

खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।

लक्ष्मी थी या दुर्गा थी वह स्वयम् वीरता की अवतार,
देख मराठे पुलकित होते उसकी तलवारों के वार,
नकली युद्ध-व्यूह की रचना और खेलना खूब शिकार,
सैन्य घेरना, दुर्ग तोड़ना ये थे उसके प्रिय खिलवार,
महाराष्ट्र कुल देवी उसकी
भी आराध्य भवानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुंह
हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसीवाली रानी थी।

हुई वीरता के वैभव के साथ सगाई झाँसी में,
ब्याह हुआ रानी बन आई लक्ष्मी बाई झाँसी में,
राजमहल में बजी बधाई खुशियाँ छायीं झाँसी में,
सुभट बुन्देलों की विरुदावलि-सी वह आई झाँसी में,
चित्रा ने अर्जुन को पाया,
शिव से मिली भवानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुंह
हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।

उदित हुआ सौभाग्य, मुदित महलों में उजियाली छायी,
किन्तु काल-गति चुपके चुपके काली घटा घेर लायी,
तीर चलाने वाले कर में उसे चूड़ियाँ कब भायीं,
रानी विधवा हुई, हाय! विधि को भी नहीं दया आयी,

निःसन्तान मरे राजा जी,
रानी शोक-समानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुँह
हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।

बुझा दीप झाँसी का तब डलहौजी मन में हरषाया,
राज्य हड़प करने का उसने यह अच्छा अवसर पाया,
फ़ौरन फ़ौज भेज दुर्ग पर अपना झंडा फहराया,
लावारिस का वारिस बन कर ब्रिटिश राज्य झाँसी आया,
अश्रुपूर्ण रानी ने देखा
झाँसी हुई बिरानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुंह
हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।

अनुनय विनय नहीं सुनती है, विकट शासकों की माया,
व्यापारी बन दया चाहता था जब यह भारत आया,
डलहौजी ने पैर पसारे अब तो पलट गई काया,
राजाओं नव्वाबों को भी उसने पैरों ठुकराया,
रानी दासी बनी, बनी यह
दासी अब महरानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुंह
हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।

छिनी राजधानी देहली की, लखनऊ छीना बातों बात,
कैद पेशवा था बिठूर में हुआ नागपुर का भी घात,
उदैपूर, तंजोर, सतारा, करनाटक की कौन बिसात?
जब कि सिन्ध, पंजाब ब्रह्मा पर अभी हुआ था बज्र-निपात,
बंगाले मद्रास आदि की
भी तो वही कहानी थी
बुन्देले हरबोलों के मुंह,
हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।

रानी रोयीं रनिवासों में, बेगम ग़म से थीं बेजार,
उनके गहने कपड़े बिकते थे कलकत्ते के बाजार,
सरे-आम नीलाम छापते थे अंग्रेजों के अखबार,
'नागपूर के जेवर ले लो' 'लखनऊ के लो नौलख हार',
यों परदे की इज्ज़त परदेशी
के हाथ बिकानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुंह
हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।

कुटियों में थी विषम वेदना, महलों में आहत अपमान,
वीर सैनिकों के मन में था अपने पुरखों का अभिमान,
नाना, धुन्धू, पन्त, पेशवा जुटा रहा था सब सामान,
बहन छबीली ने रण-चंडी का कर दिया प्रकट आह्वान!
हुआ यज्ञ प्रारम्भ उन्हें तो
सोयी ज्योति जगानी थी,

बुन्देले हरबोलों के मुंह
हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी ।

महलों ने दी आग झोंपड़ी ने ज्वाला सुलगाई थी,
यह स्वतन्त्रता की चिनगारी अन्तरतम से आयी थी,
झाँसी चेती, दिल्ली चेती, लखनऊ लपटें छायी थीं,
मेरठ, कानपुर, पटना ने भारी धूम मचायी थी,
जबलपूर कोल्हापुर में भी
कुछ हलचल उकसानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुंह
हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो,
झाँसी वाली रानी थी ।

इस स्वतन्त्रता महायज्ञ में कई वीरवर आये काम,
नाना, धुन्धुपन्त, ताँतिया, चतुर अजीमुल्ला सरनाम,
अहमदशाह मौलवी, ठाकुर कुँवरसिंह सैनिक अभिमान,
भारत के इतिहास-गगन में अमर रहेंगे जिनके नाम,
लेकिन आज जुर्म कहलाती
उनकी जो कुरबानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुंह
हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी ।

इनकी गाथा छोड़, चले हम झाँसी के मैदानों में,
जहाँ खड़ी है लक्ष्मी बाई मर्द बनी मर्दानों में,

लेफ्टिनेंट वॉकर आ पहुँचा, आगे बढ़ा जवानों में,
रानी ने तलवार खींच ली, हुआ द्वन्द्व असमानों में,
जख्मी होकर वॉकर भागा
उसे अजब हैरानी थी
बुन्देले हरबोलों के मुँह
हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।

रानी बढ़ी कालपी आयी, कर सौ मील निरन्तर पार,
घोड़ा थका गिरा भूमि पर, गया स्वर्ग तत्काल सिधार,
यमुना तट पर अंग्रेजों ने फिर खायी रानी से हार,
विजयी रानी आगे चल दी, किया ग्वालियर पर अधिकार,
अंग्रेजों के मित्र सिन्धिया,
ने छोड़ी रजधानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुँह
हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।

विजय मिली, पर अंग्रेजों की फिर सेना घिर आयी थी,
अबके जनरल स्मिथ सम्मुख था, उसने मुँह की खाई थी,
काना और मन्दरा सखियाँ रानी के सँग आयी थीं,
युद्ध क्षेत्र में उन दोनों ने भारी मार मचायी थी,
पर पीछे ह्यू रोज आ गया,
हाय ! घिरी अब रानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुँह
हमने सुनी कहानी थी—

खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।

तो भी रानी मार-काट कर चलती बनी सैन्य के पार,
किन्तु सामने नाला आया, था यह संकट विषम अपार,
घोड़ा अड़ा, नया घोड़ा था, इतने में आ गये सवार,
रानी एक शत्रु बहुतेरे, होने लगे वार पर वार,
घायल होकर गिरी सिंहनी
उसे वीरगति पानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुह
हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।

रानी गयी सिधार, चिता अब उसकी दिव्य सवारी थी,
मिला तेज से तेज, तेज की वह सच्ची अधिकारी थी,
अभी उम्र कुल तेइस की थी, मनुज नहीं अवतारी थी,
हम को जीवित करने आई बन स्वतन्त्रता-नारी थी,
दिखा गई पथ, सिखा गयी
हमको जो सीख सिखानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुंह
हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।

जाओ रानी! याद रखेंगे ये कृतज्ञ भारतवासी,
यह तेरा बलिदान जगावेगा स्वतन्त्रता अविनाशी,
होवे चुप इतिहास, लगे सच्चाई को चाहे फाँसी,
हो मदमाती विजय, मिटा दे गोलो से चाहे झाँसी,

तेरा स्मारक तू ही होगी,
तू खुद अमिट निशानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुंह
हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।

मेरी कविता

मुझे कहा कविता लिखने को, लिखने बैठी मैं तत्काल।
पहिले लिखा जालियाँवाला, कहा कि, "बस हो गये निहाल।।
तुम्हें और कुछ नहीं सूझता, ले देकर वह खूनी बाग।
रोने से अब क्या होता है, धुल न सकेगा उसका दाग।।
भूल उसे चल हँसे मस्त हो"—मैंने कहा, "धरो कुछ धीर।
तुमको हँसते देख कहीं, फिर फ़ायर करे न डायर वीर।।"
कहा "न मैं कुछ लिखने दूँगा, मुझे चाहिये प्रेम-कथा।"
मैंने कहा "नवेली है वह, रम्य बदन है चन्द्र यथा।"
अहा मग्न हो उछल पड़े वे, मैंने कहा, सुनो चुपचाप।
बड़ी-बड़ी सी भोली आँखें, केश-पाश ज्यों काले साँप।।
भोली-भाली आँखें देखो, उसे नहीं तुम रुलवाना।
उसके मुंह से प्रेम भरी, कुछ मीठी बातें कहलाना।।
हाँ वह रोती नहीं कभी भी, और नहीं कुछ कहती है।
शून्य दृष्टि से देखा करती, खिन्न-मना-सी रहती है।।
करके याद पुराने सुख को, कभी चौंक सी पड़ती है।
भय से कभी काँप जाती है, कभी क्रोध में भरती है।।
कभी किसी की ओर देखती, नहीं दिखाई देती है।
हँसती नहीं; किन्तु चुपके से कभी कभी रो लेती है।।

ताजे हलदी के रंग-सी, कुछ पीली उसकी सारी है।
लाल लाल से धब्बे हैं कुछ अथवा लाल किनारी है।।
उसका छोर लाल ! संभव है हो वह खूनी रंग से लाल।
है सिन्दूर बिन्दु से सज्जित, अब भी कुछ कुछ उसका भाल।।
अब भी हैं उसके पैरों में बनी महवार की लाली।
हाथों में मेंहदी की लाली, वह दुखिया भोली भाली।।
उसी बाग की ओर शाम को जाती हुई दिखाती है।
प्रातःकाल सूर्योदय से, पहिले हो फिर जाती है।।
लोग उसे पागल कहते हैं, देखो तुम न भूल जाना।
तुम भी उसे न पागल कहना, मुझे क्लेश मत पहुँचाना।।
उसे लौटती समय देखना, रम्य बदन पीला पीला।
सारी का वह लाल छोर भी, रहता है बिल्कुल गीला।।
डायन भी कहते हैं उसको, कोई कोई हत्यारे।
उसे देखना किन्तु न ऐसी, गलती करना तुम प्यारे।।
बाईं ओर हृदय में धड़कन कुछ उसके दिखलाती है।
वह भी तो प्रति दिन क्रम क्रम से, धीमी होती जाती है।।
किसी रोज संभव है, उसकी मिट जावे यह भी धड़कन।
बुझ जायें आंखें, धीमी होती जाती हैं क्षण-क्षण।।
उसकी ऐसी दशा देखना, आँसू चार बहा देना।
उसके दुख में दुखिया बनकर तुम भी दुःख मना लेना।।

२३—जयशङ्कर 'प्रसाद'

हिन्दी के गंभीर दार्शनिक कवियों में 'प्रसाद' जी का स्थान सर्वोच्च है। इन्होंने जो कुछ लिखा, उच्च कोटि का और सुन्दर लिखा। ये किसी विषय को लाघव या सस्तेपन की दृष्टि से देखना जानते ही न थे। जीवन और साहित्य के गहरे अध्ययन ने इन्हें एक विशेष दृष्टिकोण प्रदान किया था, जिसके कारण इनका काव्य एक नए युग, एक नई धारा और एक नई परिपाटी को जन्म देनेवाला सिद्ध हुआ। नियमों और परम्पराओं को प्रतिभा के विकास के मार्ग में रुकावट समझते थे। भाव और भाषा दोनों के क्षेत्र में इन्होंने क्रान्तिकारी परिवर्तन किया।

इनके सौन्दर्य के चित्रण में वासना का प्रायः अभाव है। प्रकृति का रूप इनके हाथों सुन्दर और स्वच्छ हो गया है। वह केवल लौकिक प्रेम की क्रीडा भूमि नहीं रही, मानव के अखिल भाव जगत में उसका स्थान है। 'प्रसाद' जी ने मानव को संकीर्णता के बंधनों से उन्मुक्त कर आध्यात्म-मन्दिर की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा की है।

आध्यात्म-प्रेम के वर्णन में 'प्रसाद' जी अपने आप को बिल्कुल खो बैठते हैं। वे कण-कण में अपने इष्टदेव की सत्ता का अनुभव करते हैं। इसके बिना उन्हें जीवन दुःखद और सूना प्रतीत होता है। 'प्रसाद' जी का नवीन जीवन सन्देश स्पष्ट है।

'प्रसाद' जी का जन्म संवत् १९४६ में और निधन संवत् १९९४ में हुआ। इनके पिता बाबू देवीप्रसाद जी अच्छे विद्याप्रेमी और साहित्यिकों का आदर करनेवारे थे। इनकी शिक्षा अधिकतर घर पर ही हुई थी। आरम्भ में ये ब्रजभाषा में कविता किया करते थे किन्तु शीघ्र ही खड़ी बोली

की ओर प्रवृत्त हुए। एक महान कवि के साथ-साथ प्रसाद जी एक सफल नाटककार, उच्चकोटि के उपन्यास तथा कहानी लेखक भी थे।

इनकी मुख्य रचनाओं के नाम ये हैं:—काव्य—कानन-कुसुम, प्रेम-पथिक, झरना, लहर, आँसू और कामायनी।

नाटक—ध्रुव स्वामिनी, राजश्री, अजातशत्रु, जनमेजय का नागयज्ञ, स्कन्दगुप्त और चन्द्रगुप्त।

कहानी संग्रह—छाया, आंधी, आकाशदीप।

उपन्यास—कंकाल, तितली, इरावती।

आशा

उषा सुनहले तीर बरसती, जय लक्ष्मी-सी उदित हुई;
उधर पराजित काल रात्रि सी, जल में अन्तर्निहित हुई॥
यह विवर्णमुख त्रस्त प्रकृति का आज लगा फिर से हंसने
वर्षा बीती, हुआ सृष्टि में, शरद-विकास नये सिर से॥

नव कोमल आलोक बिखरता, हिम संसृति पर भर अनुराग,
सित सरोज पर क्रीड़ा करता, जैसे मधुमय पिंग पराग॥
धीरे धीरे हिम-आच्छादन, हटने लगा धरातल से;
जगी वनस्पतियाँ अलसाई, मुख धोती शीतल जल से॥

नेत्र-निमीलन करती मानों, प्रकृति प्रबुद्ध लगी होने;
जलधि लहरियों की अंगड़ाई बार बार जाती सोने॥
सिन्धु सेज पर धरा वधू अब, तनिक सकुचित बैठी-सी,
प्रलय निशा की हलचल स्मृति में मान किये सी ऐंठी-सी॥
देखा मनु ने वह अतिरंजित, विजन विश्व का नव एकान्त;
जैसे कोलाहल सोया हो, हिम शीतल जड़ता सा श्रान्त॥

इन्द्र नील मणि महा चषक था, सोम-रहित उलटा लटका,
आज पवन मृदु सांस ले रहा, जैसे बीत गया खटका

वह विराट था हेम घोलता नया रंग भरने को आज,
कौन ? हुआ यह प्रश्न अचानक और कुतूहल का था राज;
"विश्वदेव, सविता या पूषा, सोम, मरुत, चंचल पवमान,
वरुण आदि सब घूम रहे हैं, किसके शासन में अम्लान ?

किसका था भ्रूभंग, प्रलय-सा, जिसमें ये सब विकल रहे;
अरे ! प्रकृति के शक्ति-चिन्ह हे फिर भी कितने निबल रहे !
विकल हुआ सा कांप रहा था, सकल भूत चेतन समुदाय;
उनकी कैसी बुरी दशा थी, वे थे विवश और निरुपाय ।।

देव न थे हम और न ये हैं, सब परिवर्तन के पुतले;
हां-कि गर्व-रथ के तुरंग सा, जितना जो चाहे जुत ले ।।
महानील इस परम व्योम में, अन्तरिक्ष में ज्योतिर्मान;
ग्रह, नक्षत्र और विद्युत्कण, किसका करते से संधान ! ।।

हे विराट ! हे विश्व देव ! तुम कुछ हो ऐसा होता भान"
मन्द-गंभीर-धीर स्वर-संयुत यही कर रहा सागर गान ।।
"यह क्या मधुर स्वप्न-सी झिल मिल सदय हृदय में अधिक अधीर;
व्याकुलता सी व्यक्त हो रही आशा बनकर प्राण समीर ! ।।

यह कितनी स्पृहणीय बन गई, मधुर जागरण-सी छवि मान;
स्मित-की लहरों-सी उठती है, नाच रही जो मधुमय तान ।।
जीवन ! जीवन ! की पुकार है, खेल रहा है शीतल दाह ।
किसके चरणों में नत होता, नव प्रभात का शुभ उत्साह ।।

मैं हूं, यह वरदान सदृश क्यों, लगा गूंजने कानों में,
मैं भी कहने लगा, मैं रहूं शाश्वत नभ के गानों में ।।
यह संकेत कर रही सत्ता किसकी सरल विकासमयी;
जीवन की लालसा क्यों इतनी प्रखर विलासमयी ।।

तो फिर क्या मैं जिऊं और भी जीकर क्या करना होगा ?
देव ! बता दो अमर वेदना लेकर कब मरना होगा ?"
एक यवनिका हटी पवन से प्रेरित माया-पट जैसी;
और आवरण-मुक्त प्रकृति थी, हरी-भरी फिर भी वैसी।

स्वर्णशालियों की कलमें थीं, दूर दूर तक फैल रही
शरद-इन्दिरा के मन्दिर की, मानो कोई गैल रही ।।
विश्व कल्पना-सा ऊंचा वह, सुख-शीतल संतोष निदान;
और डूबती-सी अचला का, अवलंबन मणि-रत्न निधान ।।

अचल हिमालय का शोभनतम, लता-कलित शुचि सानु शरीर;
निद्रा में सुख स्वप्न देखता, जैसे पुलकित हुआ अधीर ।।
उमड़ रही जिससे चरणों में, नीरव की विमल विभूति;
शीतल झरनों की धारायें, बिखराती जीवन अनुभूति ।।

उस असीम नीले अचल में, देख किसी की मृदु मुस्कान;
मानो हंसी हिमालय की है, फूट चली करती कल गान ।।
संध्या-घन-माला सी सुन्दर, ओढ़े रंग-बिरंगी छींट;
गगन-चुंबिनी शैल-श्रेणियां, पहने हुए तुषार किरीट ।।

विश्व मौन गौरव महत्व की प्रतिनिधियों सी भरी विभा;
इस अनंत प्रांगण में मानों, जोड़ रही है मौन सभा ।।
वह अनन्त निलिमा व्योम की, जड़ता सी जो शान्त रही;
दूर दूर ऊंचे से ऊंचे निज अभाव में भ्रान्त रही ।।

उसे दिखाती जगती का सुख, हंसी और उल्लास अजान;
मानो तुंग तरंग विश्व की, हिम गिरि की वह सुढर उठान ।।
थी अनन्त की गोद सदृश जो विस्तृत गुहा वहाँ रमणीय;
उसमें मनु ने स्थान बनाया, सुन्दर स्वच्छ और वरणीय ।।

पहला संचित अग्नि जल रहा, पास मलिन द्युति रवि-कर से;
शक्ति और जागरण चिन्ह सा, लगा धधकने अब फिर से ॥
जलने लगा निरन्तर उनका, अग्नि होत्र सागर के तीर;
मनु ने तप में अपना जीवन, किया समर्पण होकर धीरे ॥

"नभ के सुन्दरतम रहस्य हे, कान्ति-किरण-रंजित तारा,
व्यथित विश्व के सात्विक शीतल बिन्दु भरे नव रस सारा ॥
श्रान्त, तपित जीवन को, सुख अरु शान्तिमयी छाया के देश,
हे अनन्त की गणना, देते हो कितना मधुमय सन्देश ॥

आज शून्यते चुप होने में, तू क्यों इतनी चतुर हुई;
तू रजनी, तू इन्द्रजाल-जननी, क्यों इतनी मधुर हुई ?
"जब कामना सिन्धु तट आई ले संध्या का तारा-दीप ।
फाड़ सुनहली साड़ी उसकी तू हँसती क्यों अरी प्रतीप ?

इस अनन्त काले शासन का, वह जब उच्छृंखल इतिहास ।
आँसू औ तम घोल लिख रही, तू सहसा करती मृदु हास ॥
विश्व-कमल की मृदुल मधुकरी, रजनी तू किस कोने से—
आती चूम चूम चल जाती पढ़ी हुई किस टोने से ?

आँसू

छिल-छिल कर छाले फोड़े मल-मलकर मृदुल चरण से
धुल-धुलकर बह रह जाते आँसू करुणा के कण से ।
इस विकल वेदना को ले किसने सुख को ललकारा
वह एक अबोध अकिंचन बेसुध चैतन्य हमारा ।
अभिलाषाओं की करवट फिर सुप्त व्यथा का जगना
सुख का सपना हो जाना भीगी पलकों का लगना ।

इस हृदय-कमल का घिरना अलि-अलकों की उलझन में
आँसू मरन्द का गिरना मिलना निश्वास-पवन में।
मादक थी मोहमयी थी मन बहलाने की क्रीड़ा
अब हृदय हिला देती है वह मधुर प्रेम की पीड़ा।
सुख आहत शान्त उमंगें बेगार सांस ढोने में
यह हृदय समाधि बना है रोती करुणा कोने में।

२४–रामनरेश त्रिपाठी

'मिलन', 'पथिक', और 'स्वप्न' अपके उत्कृष्ट काव्य हं। प्रेम लोक (नाटक), गोस्वामी तुलसीदास, कविता-कौमुदी, मानसी, स्वप्न के चित्र (व्यंग कहानियां) आदि उनकी हिन्दी साहित्य को देन हं। आपकी ग्राम गीतों के प्रति विशेष रुचि है।

इनकी भाषा परिष्कृत, गम्भीर, हृदयग्राही, संस्कृतमय, किन्तु ओजस्विनी है। इनकी कविता में राष्ट्रीय और दार्शनिक भावों का अद्‌भुत एवं सुन्दर सम्मिश्रण है। पथिक और स्वप्न तो बहुत ही उच्चकोटि के काव्य हैं।

पथिक की कथा दार्शनिकता एवं देशप्रेम की भावनाओं से तो ओतप्रोत है ही उसमें किया गया प्रकृति वर्णन अत्यन्त सुन्दर है। त्रिपाठी जी ने इसमें 'आत्म शक्ति साधन' द्वारा किये गये कार्यकी सफलता दिखाई है और यह भी दिखा दिया है कि कर्त्तव्य-परायण तथा सच्चे देशप्रेमी सतत साधना से एक देश को कुशासन-मुक्त कर सकते हैं।

पथिक

छूता हुआ गांव की सीमा अति निर्मल जलवाला।
बहता है अविराम निरंतर कल कल स्वर से नाला।
अनति दूर पर हरियाली से लदी खड़ी गिरि माला।
किन्तु नहीं इससे हृदयों में है आनन्द उजाला॥
कहीं श्याम चट्टान, कहीं दर्पण सा उज्जवल सर है।
कहीं हरे तृण खेत, कहीं गिरि स्रोत प्रवाह प्रखर है।

कहीं गगन के खम्भ नारियल तार भार सिर धारे ।
रस रसिकों के लिये खड़े ज्यों सुप्त नकार इशारे ।।
घेर रही है जिसे पल्लवित लना सुगन्धित झाड़ी ।
छाया शयित सघन आच्छादित कुंचित पंथ पहाड़ी ।
सर्वोपरि उन्नत मन की सी लक्षित अचल उंचाई ।
एक घड़ी को भी न किसी के लिए हुई सुखदायी ।।
ऊंचे से झरने झरते हैं शीतल धार धवल है ।
यहां परम सुख शान्ति समन्वित नित आनन्द अटल है ।
कहीं धार के पास शिलापर बैठ लोग क्षण भर को ।
पा सकते हैं शान्ति, मिटा सकते हैं, जी के ज्वर को ।।
बार बार बक पंक्ति गमन से उज्वल फूलोंवाली ।
मेघ पुष्प वर्षा से धूमिल घटा क्षितिज पर काली ।
लहराती दृग की सीमा तक धानों की हरियाली ।
वारिज नयन गगन छवि दर्शक सर की छटा निराली ।।
कदली वन से हरी धरा को देख न आँख अघाती ।
क्यों यह नहीं गांववालों के जी की जलन मिटाती ।
सन्ध्या समय चतुर्दिक से बहु हर्ष निनाद सुनाते ।
विविध रूप रंगों के पक्षी झुण्ड झुण्ड मिल आते ।
बैठ पल्लवों पर सब मिल कर गान मनोहर गाते ।
अद्भुत वाद्य यन्त्र पादप को है प्रति दिवस बनाते ।।
प्रातः काल ममत्व हीन वे कहाँ कहाँ उड़ जाते ।
जग को है अनित्य मेले का रोचक पाठ पढ़ाते ।
यह सब देख क्यों नहीं मन में उत्तम भाव समाते ।
लोग यहाँ पर बैठ घड़ी भर क्यों न सीख कुछ जाते ।।
जहाँ लता तृण में हैं केवल लोग प्रतिष्ठा पाते ।
टीले ही टीले बालू के यहाँ दृष्टि में आते ।।

मधुर मतीरे जहाँ कलेजे की हैं तपन मिटाते ।
गाधि-पुत्र की याद जहां है ऊंट भरूँट दिखाते ।
मृग-तृष्णा के दृश्य जहाँ पर नित्य देख पड़ते हैं ।
इने गिने सावन भादों में वारि बुन्द झरते हैं ॥
कोमल पथ है, दिशा शान्त है, वायु स्वच्छ सुखकर है ।
गान भूण का नृत्य मोर का, दृश्य बड़ा सुन्दर है ।
ऐसी विविध विलक्षणता से सजा प्रकृति का तन है ।
होते क्यों न देख कर इन को हर्ष विमोहित जन हैं ।

२५—सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

'निराला' जी हिन्दी के युगान्तरकारी कवि हैं। हिन्दी साहित्य में 'प्रसाद' जी ने जिन नवीनताओं को जन्म दिया था उनकी शृंखला आगे चलानेवालों में 'निराला' जी का नाम सर्वप्रमुख है। 'प्रसाद' जी की तरह दार्शनिकता और आध्यात्मिकता इनके काव्य की दो विशेषताएँ हैं। हिन्दी में गीति काव्य की प्रथा को इन्होंने ही जन्म दिया। छन्दों के संबंध में इनकी उन्मुक्त प्रवृत्ति कहीं-कहीं तो इतनी प्रबल हो उठी है कि कविता में छन्द ढूंढ़ने पर भी कठिनता से मिलता है। गंभीर दार्शनिकता और निराली वर्णनशैली के कारण अनेक स्थलों पर इनके चित्र साधारण पाठकों की वस्तु नहीं रहते। किन्तु जहाँ भाषा सरल है और कल्पना भी जटिल नहीं वहाँ इनके महान् व्यक्तित्व और बलवती प्रतिभा का प्रभाव अधिक स्पष्ट और आकर्षक हो गया है।

संगीत शास्त्र के ये बड़े मर्मज्ञ हैं। बंगला और अंग्रेजी साहित्य की छाप इनके काव्य पर स्पष्ट है। 'निराला' जी की आध्यात्म संबंधी रचनाएँ एकदम नवीनता लिए हुए हैं। इनकी 'तुम और मैं' शीर्षक कविता हिन्दी जगत में प्रसिद्ध है। 'प्रसाद' जी की तरह अमूर्त भावों को मूर्त स्वरूप देने में ये बड़े कुशल हैं। प्रकृति का चित्रण भी इनकी कृतियों में बहुत सुन्दर बन पड़ा है। 'भिक्षुक' 'विधना'', 'तोड़ती पत्थर' आदि इनकी अनेक रचनाएँ आधुनिक युग की पुकार लिए हैं। इन्होंने उपन्यास, छोटी-बड़ी कहानियाँ और निबन्ध भी लिखे हैं।

'निराला' जी का जन्म मेदनीपुर (बंगाल) में संवत् १९५५ में हुआ था। इनकी मातृभाषा बंगला है। हिन्दी की ओर इनकी रुचि बहुत पीछे

हुई। संस्कृत और बंगला साहित्य संगीत और दर्शन शास्त्र का इन्होंने गहरा अध्ययन किया है और इन सब का प्रभाव इनके काव्य पर स्पष्ट है। इनकी मुख्य रचनाएँ ये हैं।

काव्य—अनामिका, परिमल, गीतिका, तुलसीदास, कुकुरमुत्ता वेला, और नये पत्ते।

उपन्यास—अप्सरा, अलका, निरुपमा, प्रभावती।

गल्प—लिली और सखी।

"तोड़ती पत्थर"

वह तोड़ती पत्थर;
देखा मैंने उसे इलाहाबाद के पथ पर
वह तोड़ती पत्थर।
कोई न छायादार
पेड़ वह जिसके तले बैठी हुई स्वीकार;
श्याम तन, भरा बंधा यौवन,
नत नयन प्रिय-कर्म-रत मन,
गुरु हथौड़ा हाथ,
करती बार बार प्रहार—
सामने तरु मालिका अट्टालिका प्राकार।
चढ़ रही थी धूप;
गर्मियों के दिन;
दिवा का तमतमाता रूप;
उठी झुलसाती हुई लू
रुई ज्यों जलती हुई भू,
गर्द चिनगी छा गई,

प्रायः हुई दुपहर—
वह तोड़ती पत्थर
देखते देखा मुझे तो एक बार
उस भवन की ओर देखा, छिन्नतार;
देखकर कोई नहीं,
देखा मुझे उस दृष्टि से
जो मार खा रोई नहीं,
सजा सहज सितार,
सुनी मैंने वह नहीं जो थी झंकार।
एक छन के बाद वह कांपी सुघर
ढुलक माथे से गिरे सीकर,
लीन होते कर्म में फिर यों कहा—
मैं तोड़ती पत्थर।

× × ×

"तुम और मैं"

तुम तुंग हिमालय शृंग, और मैं चंचल-गति सुर सरिता।
तुम विमल हृदय उच्छ्वास, और मैं कान्त कामिनी कविता।
तुम प्रेम और मैं शान्ति।
तुम सुरापान घन अंधकार, मैं हूँ मतवाली भ्रान्ति।
तुम दिनकर के खर किरणजाल, मैं सरसिज की मुस्कान।
तुम वर्षों के बीते वियोग, मैं हूँ पिछली पहिचान।
तुम योग और मैं सिद्धि।
तुम हो रागानुराग निश्चल तप, मैं शुचिता सरल समृद्धि।
तुम मृदु मानस के भाव, और मैं मनोरंजिनी भाषा।
तुम नन्दन-वन-घन विटप और मैं सुख शीतल तल शाखा
तुम प्राण और मैं काया।

तुम शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म, मैं मनोमोहिनी माया।
तुम प्रेममयी के कंठहार, मैं वेणी काल नागिनी।
तुम कर पल्लव झंकृत सितार, मैं व्याकुल विरह रागिनी।
तुम पथ हो मैं रेणु ।
तुम हो राधा के मनमोहन, मैं उन अधरों की वेणु ।
तुम पथिक दूर के श्रान्त, और मैं बाट जोहती आशा।
तुम भवसागर दुस्तार, पार जाने की मैं अभिलाषा।
तुम नभ हो मैं नीलिमा ।
तुम शरद-सुधाकर-कला हास, मैं हूँ निशीथ मधुरिमा।
तुम गंध कुसुम कोमल पराग, मैं मृदु गति मलय-समीर।
तुम स्वेच्छाचारी मुक्त पुरुष मैं प्रकृति प्रेम जंजीर।
तुम शिव हो मैं हूँ शक्ति।
तुम रघुकुल-गौरव-रामचन्द्र मैं सीता अचला भक्ति।
तुम हो प्रियतम मधुमास और मैं पिक कूजन तान।
तुम मदन पंचशर-हस्त और मैं हूँ मुग्धा अनजान॥
तुम अम्बर मैं दिग्वसना,
तुम चित्रकार घन पटल श्याम मैं तड़ित्तूलिका रचना
तुम रण ताण्डव उन्माद नृत्य मैं युवति मधुर नूपुर ध्वनि।
तुम नाद-वेद ओंकार-सार मैं कवि शृंगार-शिरोमणि।
तुम यश हो मैं हूँ प्राप्ति ।
तुम कुन्द इन्दु अरविन्द शुभ्र तो मैं हूँ निर्मल व्याप्ति।

२६–महादेवी वर्मा

महादेवी वर्मा का जन्म सं० १९६४ में हुआ था। आप हिन्दी के रहस्यवादी कवियों में सर्वप्रमुख हैं। इनकी कविताओं में वेदना की तीव्र अनुभूति व्याप्त है। दुःखवाद तथा नैराश्य की छाप जितनी महादेवीजी की कविताओं पर है, उतनी अन्य किसी भी हिन्दी कवि पर नहीं है। परन्तु इनका दुःख विश्लेषण की परिधि से बाहर है, क्योंकि वह इस दुःख की ही साधिका बन चुकी हैं और दुःख ही इनका सर्वस्व हो चुका है।

परन्तु महादेवीजी की वेदना किसी व्यक्ति से संबंधित नहीं है। उनकी पीड़ा सदा ही एक अज्ञात भावना से प्रेरित होती है। और उसी असीम के विरह में वे तड़पती हैं।

महादेवी जी को सूनापन और वेदना अप्रिय नहीं है। वे तो इस पीड़ा की ज्वाला को सदा ही जाग्रत किये रखना चाहती हैं। उन्हें मिलन सुख की आकांक्षा नहीं है। वे तृप्ति को नहीं चाहतीं। एक साधिका की भांति अपनी प्यास को जाग्रत रख वह विरह में ही सुख का अनुभव करती हैं।

महादेवी जी ने प्रकृति का मानवीकरण कर सुन्दर छायावादी गीत भी रचे हैं। गीत लिखने में जितनी सफलता महादेवी जी को प्राप्त हुई है, उतनी किसी अन्य हिन्दी कवि को नहीं।

महादेवी जी की भाषा बहुत ललित, तथा प्रसाद गुण युक्त है। संस्कृत शब्दों की बहुलता तथा विचारों की गंभीरता के होते हुए भी आपकी रचनाओं में कहीं जटिलता नहीं आने पाई है। सुकुमार कल्पना के अनुरूप आप की भाषा भी सुकोमल है।

महादेवी जी की कविताओं के संग्रह 'नीहार', 'रश्मि', 'नीरजा' तथा 'दीपशिखा' के नाम से प्रकाशित हो चुकी हैं। आप अपनी कविताओं की उत्कृष्टता के कारण 'मंगलाप्रसाद पारितोषक' द्वारा पुरस्कृत भी की जा चुकी हैं।

(१)

पंथ होने दो अपरिचित प्राण रहने दो अकेला
और होंगे चरण हारे
अन्य हैं जो लौटते वे शूल को संकल्प सारे
दुख व्रती निर्माण-उन्मद
यह अमरता नापते पद
बांध देंगे अंक-संसृति से तिमिर में स्वर्ण-वेला।
दूसरी होगी कहानी
शून्य में जिसके मिटे स्वर धूल में खोई निशानी,
आज जिस पर प्रलय विस्मित,
मैं लगाती चल रही नित
मोतियों की हाट और चिनगारियों का एक मेला,
हास का मधु दूत भेजो,
रोष की भ्रू भंगिमा पर भार को चाहे सहे जो,
ले चलेगा उर अचंचल,
वेदना जल स्वप्न-शतदल,
जान लो वह मिलन-एकाकी विरह में है दुकेला।

(२)

यह मन्दिर का दीप इसे नीरव जलने दो !
रजत शंख-घड़ियाल स्वर्ण वंशी-वीणा स्वर,
गये आरती वेला को शत शत लय से भर,

जब था कल कंठों का मेला,
विहंसे उपल तिमिर था खेला।
अब मन्दिर में इष्ट अकेला,
इसे अजिर ला शून्य गलाने को गलने दो !
चरणों से चिह्नित अलिन्द की भूमि सुनहली,
प्रणत शिरों के अंक लिये चंदन के दहली,
झरे सुमन बिखरे अक्षत सित,
धूप अर्घ्य नैवेद्य अपरिमित,
तम में सब होंगे अन्तर्हित
सब की अर्चित कथा इसी लौ में पलने दो !
पल के मन के फेर पुजारी विश्व सो गया,
प्रतिध्वनि का इतिहास प्रस्तरों बीच खो गया,
सांसों की समाधि सा जीवन,
मसि सागर-सा पंथ गया बन,
रुका मुखर कण कण का स्पन्दन,
इस ज्वाला में प्राण-रूप फिर से ढलने दो !
झंझा है दिग्भ्रान्त रात की मूर्छा गहरी,
आज पुजारी बने ज्योति का यह लघु प्रहरी,
जब तक लौटे दिन की हलचल,
तब तक यह जायेगा प्रतिपल,
रेखाओं में भर आभा जल,
दूत सांझ का इसे प्रभाती तक चलने दो।

(३)

मैं बनी मधुमास आली !
आज मधुर विषाद की घिर करुण आई यामिनी,
बरस सुधि के इन्दु से छिटकी पुलक की चांदनी।

उमड़ आई री दृगों में सजनि कालिन्दी निराली ?
रजत-स्वप्नों में उदित अपलक विरल तारावली;
जाग सुख पिक वे अचानक मदिर पंचम तान ली ।
वह चली निश्वास की मृदु बात मलय निकुंज पाली !
सजल रोमों में बिछे हैं पांवड़े मधु स्नात से,
आज जीवन के निमिष भी दूत हैं अज्ञात से,
क्या न अब प्रिय की बजेगी मुरलिका मधुराग वाली ?
मैं बनी मधुमास आली ।

२७—सुमित्रनन्दन 'पन्त'

आधुनिक युग के क्रान्तिकारी कवियों में प्रसाद और निराला के बाद पन्त जी का स्थान है। छायावादी एवं रहस्यवादी काव्य के ये तीनों मुख्य स्तम्भ हैं। प्रसाद जी ने अपनी मौलिक प्रतिभा से जिस काव्यधारा को जन्म दिया था और जिस शैली को अपनाया था उसका विकास हम 'निराला' और 'पन्त' जी के काव्य में देखते हैं।

पन्तजी मुख्य रूप से प्रकृति के कवि हैं। प्राकृतिक सौन्दर्य से पूर्ण प्रदेश में जन्म लेने के कारण प्रकृति मानों इनकी आत्मा और प्राणों से एक हो गई है। ये प्रकृति और मानव हृदय दोनों के एक मधुर संबंध में विश्वास रखते हैं। प्रकृति के संबंध में इनका दृष्टिकोण अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि वर्ड्सवर्थ से मिलता-जुलता है। भाषा की कोमलता के लिए ये प्रसिद्ध हैं। शब्द चयन इनका अनूठा होता है। इनकी नवीनतम रचनाओं में इनके काव्य की दिशा कुछ बदल गई है। कुछ अन्य आधुनिक कवियों की भाँति ये भी मार्क्सवाद और साम्यवाद के प्रभाव से आ गए हैं।

पन्त जी का जन्म संवत् १९५८ में अल्मोड़ा जिला के कसौनी नाम के गांव में हुआ था। इनके पिता का नाम पं० गंगादत्त पन्त था। इन्होंने एफ० ए० तक शिक्षा प्राप्त की है। अनेक अन्य साहित्यिकों की भाँति अधिकतर अध्ययन इन्होंने घर ही पर किया है। संस्कृत बंगला के अतिरिक्त अंग्रेजी साहित्य का अध्ययन प्रेम से किया है। बंगला साहित्य की छाप इनके ऊपर स्पष्ट है। वीणा, ग्रन्थि, उच्छ्वास, पल्लव, गुन्जन, युगान्त, युगवाणी आदि इनके अनेक कविता संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। 'स्वर्ण किरण' इनकी नवीनतम रचना है।

प्रार्थना

जग के उर्वर आंगन में,
बरसो ज्योतिर्मय जीवन ।
बरसो लघु-लघु तृण तरु पर,
हे चिर अव्यय चिर नूतन !
बरसों कुसुमों के मधुवन,
प्राणों के अमर प्रणय धन,
स्मिति स्वप्न अधर पलकों में,
उर अंगों में सुख यौवन।
छू छू जग के मृत रज कण
कर दो तृण तरु में चेतन,
मृन्मरण बांध दो जग का
दे प्राणों का आलिंगन !
बरसो सुख बन सुषमा बन,
बरसों जग-जीवन के धन ।
दिशि-दिशि में औ पल-पल में
बरसो संसृति के सावन !

संध्या

कौन, तुम रूपसि कौन ?
व्योम से उतर रही चुपचाप,
छिपी निज छाया छवि में आप,
सुनहला फैला केश-कलाप,—
मधुर, मंथर, मृदु मौन !
मूंद अधरों में मधुपालाप

पलक में निमिष, पदों में चाप,
भाव संकुल, बंकिम भ्रू-चाप,
मौन केवल तुम मौन !
ग्रीव तिर्यक्, चम्पक द्युति गात,
नयन मुकुलित, नतमुख जलजात,
देह छवि छाया में दिन रात,
कहाँ रहती तुम कौन ?

अनिल पुलकित स्वर्णांचल लोल,
मधुर नूपुर ध्वनि खग-कुल रोल,
सीप से जलदों के पर खोल
उड़ रही नभ में मौन !

लाज से अरुण-अरुण सुकपोल
मदिर अधरों की सुरा अमोल—
बने पावस घन स्वर्ण हिंडोल,
कहो, एकाकिनी, कौन ?
मधुर, मंथर तुम मौन !

नौका विहार

शान्त, स्निग्ध, ज्योत्स्ना उज्जवल !
अपलक अनन्त नीरव भूतल ।
सैकत शैय्या पर दुग्ध धवल, तन्वंगी गंगा ग्रीष्म विरल
लेटी है श्रान्त क्लांत, निश्चल ।
तापस बाला गंगा निर्मल, शशि मुख से दीपित मृदु करतल,
लहरें उर पर कोमल कुंतल ।
गोरे अंगों पर सिहर-सिहर, लहराता तार तरल सुन्दर
चंचल अंचल सा नीलांबर ।

साड़ी की सिकुड़न सी जिस पर शशि की रेशमी विभा से भर,
सिमटी है वर्तुल मृदुल लहर।
चाँदनी रात का प्रथम प्रहर,
हम चले नाव लेकर सत्वर।
सिकता की सस्मित सीपी पर, मोती की ज्योत्स्ना रही विचर,
लो, पालें बँधी खुला लंगर।
मृदु, मंद-मंद, मंथर-मंथर, लघु तरणि हंसिनी सी सुन्दर,
तिर रही खोल पालों के पर।
निश्चल जल के शुचि दर्पण पर विम्बित हो रजत पुलिन निर्भर,
दुहरे ऊँचे लगते क्षण भर।
कालाकांकर का राजभवन, सोया जल में निश्चिंत प्रमन,
पलकों में वैभव स्वप्न सघन।
नौका से उठती जल हिलोर,
हिल पड़ते नभ के ओर छोर।
विस्फारित नयनों से निश्चल, कुछ खोज रहे चल तारक जल
ज्योतित कर, जल का अन्तस्तल,
जिनके लघु दीपों के चंचल, अंचल की ओट किए अविरल,
फिरतीं लहरें लुक छिप पल-पल।
सामने शुक्र की छवि झलमल, पैरती परी सी जल में कल,
रुपहरे कचों में हो ओझल।
लहरों के घूंघट से झुक-झुक, दशमी का शशि निज तिर्यक् मुख,
दिखलाता, मुग्धा सा रुक-रुक।
अब पहुँची चपला बीच धार,
छिप गया चाँदनी का कगार।
दो वाहों से दूरस्थ तीर, धारा का कृश कोमल शरीर,
आलिंगन करने को अधीर।

अति दूर क्षितिज पर विटप माल, लगती भू-रेखा सी अराल,
अपलक नभ नील नयन विशाल,
माँ के उर पर शिशु सा समीप, सोया धरा में एक द्वीप,
उर्मिल प्रवाह को कर प्रतीप;
वह कौन विहग? क्या विकल कोक, उड़ता हरने निज विरह शोक,
छाया की कोकी को विलोक।
पतवार घुमा अब प्रतनु भार,
नौका घूमी विपरीत धार।
डांडों के चल करतल पसार, भर-भर मुक्ताफल फेन स्फार,
बिखराती जल में तार हार।
चाँदी के सांपों सी रलमल नाचती रश्मियां जल में जल,
रेखाओं की खिच तरल सरल।
लहरों की लतिकाओं में खिल, सौ-सौ उडु झिलमिल,
फैले फूले जल में फेनिल।
अब उथला सरिता का प्रवाह, लग्गी से ले-ले सहज थाह,
हम बढ़े घाट को सोत्साह।
ज्यों-ज्यों लगती है नाव पार,
उर में आलोकित शत विचार।

इस धारा सा जग का क्रम, शाश्वत इस जीवन का उद्गम,
शाश्वत है, गति शाश्वत संगम।
शाश्वत नभ की नीला विकास, शाश्वत शशि का यह रजत हास,
शाश्वत लघु लहरों का विलास।
हे जग जीवन के कर्णधार! चिर जन्म-मरण के आर पार;
शाश्वत जीवन नौका-विहार।
मैं भूल गया अस्तित्व ज्ञान, जीवन का यह शाश्वत प्रमाण
करता मुझको अमरत्व दान।

गुंजन

मैं नहीं चाहता चिर-सुख,
मैं नहीं चाहता चिर-सुख,
सुख-दुख की खेल मिचौनी
खोले जीवन अपना मुख ।

सुख-दुख के मधुर मिलन से
यह जीवन हो परिपूरण
फिर घन में ओझल हो शशि,
फिर शशि से ओझल हो घन ।

जग पीड़ित है अति-दुख से
जग पीड़ित रे अति-सुख से,
मानव-जग में बंट जावें
दुख सुख से औ सुख दुख से ।

अविरत दुख है उत्पीड़न,
अविरत सुख भी उत्पीड़न;
दुख सुख से निशा दिवा में
सोता-जगता जग-जीवन ।

यह साँझ-उषा का आँगन,
आलिंगन विरह-मिलन का
चिर हास अश्रुमय आनन
रे, इस मानव जीवन का ।

२८—'माखन लाल चतुर्वेदी'

माखनलालजी की वाणी हिन्दी के सभी अन्य कवियों के स्वर की अपेक्षा तीव्र, मर्मस्पर्शिनी तथा अपनी अनभतियों की अभिव्यक्ति में पूर्ण है। वे एक 'भारतीय आत्मा' हैं और उनमें गुलाम भारत की आत्मा की तड़प है, चीख हैजो बन्धनों को टूक-टूक करने के संकल्प में बलिदान को पूजा-मधुर तथा सूली को प्रियतम की सेज से अधिक कोमल समझती है।

उनके व्यक्तित्व के चार स्वरूप स्पष्ट हैं। वे शरीर से योद्धा, हृदय से प्रेमी, आत्मा से विह्वल भक्त तथा विचारों से क्रान्तिकारी हैं। परन्तु साहित्य के धरातल पर ये चारों घुलकर एकाकार हो जाते हैं। उनके काव्य में शासन के प्रति आक्रोश के भाव नहीं हैं, क्योंकि वे दमन-जनित मार्ग को साधना-पथ स्वीकार करते हैं। यही नहीं स्वयं मरण भी उनके लिए एक त्योहार है। राष्ट्र सेवा तथा आराध्योपासना उनकी दृष्टि में एक ही लक्ष्य की ओर जानेवाली आलोक की दो पगडंडियां हैं। वे 'श्याम' के उस स्वरूप के उपासक हैं जो उनके प्यारे देश को हाथों हाथ लिये हो। वैष्णव भावधारा से सिंचकर उनकी पंक्तियाँ राजनीति के नीरस प्रश्न को भी सरस कर देती हैं।

इनका स्नेह साकार से अविर्भूत होकर निराकार में लीन होने की दिव्य आकांक्षा से पूर्ण होता है। इनकी अनेक कविताएँ उस काल की हैं जब छायावाद की रूपरेखा भी नहीं बनी थी। इस नाते उनका महत्व और भी अधिक है। अन्य भाषाओं के अगणित शब्द अपने मौलिक ढंग से उन्होंने प्रयुक्त किये और आज भी करते चले जा रहे हैं। उनकी रचनाओं की गति में व्याकरण खो जाती है।

इनकी रचनाएँ--'हिमकिरीटिनी', 'साहित्य देवता' और 'हिम तरंगिनी' प्रकाशित हो चुकी हैं।

(१)

सुलझन की उलझन है,
कैसी दीवानी, दीवानी !
पुतली पर चढ़कर गिरता
गिर कर चढ़ता है पानी।
क्या हीतल के पागलपन का
मल धोने आई हैं ?
प्रलयंकर की शंकर की गंगा
जल होने आई हैं ?
बूंदें बरछी की नोकों सी
मुझसे खेल रही हैं।
पलकों पर कितना प्राणों—
का ज्वार ढकेल रही हैं।
अब क्या रुम झुम से झुमकेगा—
आंगन ग्वालिनियां का ?
बन्दी गृह के वैभव पर
आंखें डालेंगी डाका ?

(२)

आज नयन के बंगले में
संकेत पाहुने आये री सखि !
जी से उठे
कसक पर बैठे
और बेसुधी—
के बन घूमें

युगुल-पलक
ले चितवन मीठी,
पथ-पद-चिन्ह
चूम, पथ भूले ।
दीठ डोरियों पर
माधव को
बार-बार मनुहार थकी मैं
पुतली पर बढ़ता-सा यौवन
ज्वार लुटा न निहार सकी मैं !
दोनों कारागृह पुतली के
सावन की झर लाये री सखि !
आज नयन के बंगले में
संकेत पाहुने आये री सखि

(३)

सुनकर तुम्हारी चीज़ हूँ
रण मच गया यह घोर,
वे विमल छोटे से युगल,
ये भीम काय कठोर;
मैं घारे रव में खिच पड़ा
कितना भयंकर जोर ?
वे खींचते हैं, हाय !
ये जकड़े महान् कठोर ।
हे देव ! देरे दांव ही
निर्णय करेंगे आप;
उस ओर तेरे पांव हैं
इस ओर मेरे पाप

२६–राम कुमार वर्मा

रामकुमार जी हिन्दी के उन कवियों में हैं जिन्होंने अध्ययन शीलता को अनुभूति की तीव्रता के साथ ही अपने जीवन में उतार लिया है। इनकी भावना में स्वाभाविक रूप से रहस्यात्मकता रहती है। कबीर की रहस्य-मयी बाणी का गहन मनन तथा पाश्चात्य रहस्यवाद की अभिज्ञता सबने मिलकर इनके रहस्यवाद को प्रौढ़ता प्रदान की है। इनकी इस प्रकार की भावनाओं में एक सुगमता पूर्ण सौन्दर्य रहता है। क्लिष्ट कल्पना अथवा दुरुहता का आधार नहीं लिया जाता। छायावादी युग में रहस्य-वाद का जो अंश आ मिला है उस का बहुत कुछ श्रेय आप ही को है। 'चित्ररेखा' तथा 'चन्द्रकिरण' में इस प्रकार की भावना से ओत प्रोत कविताएँ संकलित हैं।

इनकी रचनाओं में प्रकृति के प्रति एक लालसा मय आस्था है। उसके दर्शन के लिए आँखों में अमर प्यास है और उसकी आनन्दात्मक अनुभूति के लिए हृदय में चिर स्थान है। प्रकृति के ही दैवी चित्र को यह रहस्यवाद के क्षेत्र में भावना के व्यक्ती करण का प्रधान कारण मानते हैं। 'रूप राशि' 'चन्द्र किरण' तथा 'हिम हास' में प्रकृति का सजीव चित्रण है। वर्मा जी की दूसरी साहित्यिक विशेषता है उनकी नाट्यरचना। पर वे केवल एकांकी नाटक ही लिखते हैं।

वर्मा जी छायावाद काल के प्रतिष्ठित कवि हैं। उन्हें 'चित्ररेखा' पर देव पुरुस्कार भी प्राप्त हो चुका है।

विश्ववन्द्य बापू

क्रियाशील दृढ़ हाथ और,
मुखपर मृदुतम मुस्कान ।
कठिन साधना से निकली हो,
जैसे सिद्धि महान !
एक तेज-जिसमें कितने
सूर्यों का अभ्युत्थान ।
एक मन्त्र—जिससे अभिशापों–
से निकले वरदान ।
स्वर जो विश्व-ताप को सब अनुभूति लिए है साथ।
है स्वतन्त्रता के प्रदीप-सा पराधीन के हाथ।

ये सब जैसे हैं विभूतियाँ,
जो लेकर अनुराग।
बापू ! सज्जित करने आईं,
आज तुम्हारा त्याग ॥
वही त्याग जो वैभव के
स्वप्नावसान का ज्ञान—
बन कर जागृत है जीवन के–
क्षण-क्षण में मुखमान ।
विश्व-संपदा छोटी है, इतना महान है त्याग ।
पद-वंदन के लिए तुच्छ लगता है स्वर्ण पराग ॥

कर्मयोग के साधक तुम हो,
निर्बल के बल राम ।
कितने कंठों गूँजा है,
आज तुम्हारा नाम ?

विश्ववंद्य ! तुमने खोजे हैं,
निष्प्राणों में प्राण ।
किया तुम्हीं ने जीवन में,
जीवन का नव निर्माण ।
छिद्रों में संगीत भरा, कर दिया उन्हें स्वर द्वार ।
तुमने लघु संकेत किया गूँजा सारा संसार ॥

बापू ! तुमको पाकर युग का,
धन्य हुआ इतिहास ।
आज तुम्हारा वर्तमान ही,
है भविष्य की साँस ।
जिस पथ पर गतिशील–
तुम्हारी छाया का आकार ।
पथ पर ही स्वतन्त्रता
का मंगल-मय द्वार ।
सुन पड़ता है वीर गीत सुन पड़ता है जयनाद ।
विजय सामने ही है बापू ! दो तुम आशीर्वाद ॥

कंकाल

क्या शरीर है ? शुष्क धूल का—
थोड़ा सा छबि-छाल;
इस छवि में ही छिपा हुआ है
वह भीषण कंकाल !
उस पर इतना गर्व ? अरे
इतने गौरव का गान;
थोड़ी सी मदिरा है, उसपर,
सीखा है बलिदान ।

मदमाती आंखों वाले, ओ। ठहर अरे नादान !
एक फूल की माला है, उस पर इतना अभिमान !

इस यौवन के इन्द्र धनुष में,
भरा वासना रंग;
काले बादल की छाया में,
सजता है यह ढंग,
और उमंगों में भूला है,
बन कर एक उमंग;
एक टूटता स्वप्न आँख में,
कहता उसे अनंग—
वह अनंग जो धूल कणों में भरता है उन्माद।
जर्जरपन में ले आता है, नव यौवन की याद।

और (याद आया अब)—
मृगनयनी का नयन विलास,
हँसती और लजाती थी—
चितवन कानों के पास;
कलित कपोलों को कोरों में—
भर उषा का रंग;
चंचल तीर चला चितवन का,
करती थी भ्रू-भंग,
मैंने देखा था उसमें, गिरते फूलों का हास,
सन्ध्या के काले अंबर में मिटता अरुण विकास।

दूर ! दूर !! मत भरो कान में
वह मतवाला राग;

यही चाहते हो, मैं कर लूं
इस जग से अनुराग ?
गिरते हुए फूल से कर लूं
क्या अपना शृंगार ?
करने को कहते हो मुझसे
निश्चल शव से प्यार ?
गिन डालूं कितनी आहों से अपने मन के भाव ?
पथराई आँखों से कैसे देखूं विष का स्राव ?

अरे पुण्य की भाषा में तुम
क्यों कहते हो पाप ?
क्षणिक सुखों की नीवों पर
क्यों उठा रहे संताप ?
सुमन-रंग के किस आशा पर,
करते अमर विहार ?
ओस कणों में देख रहे—
सारे नभ का शृंगार ?
प्यार-प्यार क्यों प्यार कर रहे नश्वरता से प्यार ?
यहाँ जीत में छिपी हुई है इस जीवन की हार ?

मृत्यु वही है, जिसमें होती,
जीवित क्षण की हार;
वे ही क्षण क्यों भाग रहे हैं,
वर्तमान के पार ?
मेरे आगे ही मेरे
जीवन का नाश-विलास;

झाँक शुष्कता रही चोर सी,
हृदय सुमन के पास,
जीवन आभा बनती जाती दिन दिन अधिक मलीन,
अन्धकार में भी बनता हूँ मैं लोचन से हीन ।

झूल रहा हूँ पाकर, स्मृति की,
चंचल एक हिलोर;
देख रहा हूँ मैं जीवन के
किसी दूसरी ओर
हा, वह यौवन लाली करती
जीवन-सुमन-विहार;
मादकता में धूल कणों में—
भी करती थी प्यार,
शुष्क पत्तियों से करती थी आलिंगन का हाव,
मतवाले बनकर आते थे, मन के नीरस भाव ।

कान भावों की रजनी में
आशा का अभिसार;
मैंने छिपकर देखा था,
देखा था कितनी बार !
उनका आना और समुत्सक—
मेरे मन का प्यार;
दोनों भाव बना देते थे,
लज्जित लोचन चार,
किन्तु मुझे क्या मिलता था ? क्या बतला दूं उपहार ?
शीतल होठों का मुर्झाया-सा चुम्बन उस बार ।

उत्सुकता के बदले में यह
भीषण अत्याचार।
घृणा, घृणा शत जिह्वा से
डसती थी बारम्बार;
आँखों की मदिरा का बन जाना
आँसू की धार,
बाहु-पाश का शक्ति-हीन हो
गिरना धनुषाकार,
यह था क्या उपहार, अरे, इस जीवन का उपहार !
फूल-रूप क्यों रखता है यह धूल रूप संसार ?

छविमय कहते हो जिसको,
जिसमें है रूप अपार,
अरे ! भरा है उसमें कितने,
पापों का संसार !
पहिन रहे हो हार,
उसी में भूल रही है हार,
पुण्य मानकर क्यों करते हो,
इन पापों से प्यार ?
मुझे न छूना, जतलाओ मत अपना झूठा प्यार,
धूल समझकर छोड़ चुका हूँ यह कलुपित संसार !

३०–हरिवंश राय 'बच्चन'

जब हिन्दी के कविता क्षेत्रमें छायावाद का बोल बाला था और छाया वाद की रहस्यमयता और जटिलता जन-साधारण के लिए दुरूह हो रही थी 'बच्चन' ने अपनी सरल, सुबोध और रसमय शैली के द्वारा हिन्दी कविता को एक नयी दिशा दी । 'बच्चन' का 'हालावाद' हिन्दी जगत में काफी लोक प्रिय और प्रसिद्ध हुआ । 'बच्चन' ने उमर खय्याम की रुबाइयों का 'खय्याम की मधुशाला' के नाम से अनुवाद कर हिन्दी काव्य जगत् में प्रवेश किया । एक अर्से तक आप मधुशाला ही पर कविताएँ लिखते रहे । लेकिन आजकल आपने विषय बदल दिया है । प्रवाह, और सुगमता आपकी शैली की विशेषता है । जन्म संवत् १९६४ में हुआ । आजकल इलाहाबाद विश्वविद्यालय में अंग्रेजी के प्रोफेसर हैं । कविता पढ़ने की शैली बड़ी आकर्षक और हृदय-ग्राहिणी है । रचनाओं में प्रमुख मधुशाला, मधुबाला, मधुकलश, निशा निमन्त्रण, एकांत संगीत, आकुलअन्तर, मिलन-यामिनी, सतरंगिणी, बंगाल का अकाल, खादी के फूल आदि ।

संकलित कविताएँ 'मिलम यामिनी' से ली गई हैं । इनमें 'निशा-निमंत्रण' और 'एकान्त संगीत' की निराशा से उबरकर कवि ने आशा-वाद की ओर कदम बढ़ाया है, यद्यपि निराशा से पूरी तरह अभी कवि अपना पीछा छुड़ा नहीं पाया है ।

(१)

क्या मेरा है जो आज तुम्हें दे डालूं ।
मिट्टी की अंजलि में मैंने जोड़ा स्नेह तुम्हारा,
बाती की थाती दे तुमने मेरा भाग्य संवारा,

करूँ आरती तो भी जलते हैं वरदान तुम्हारे,
अपने प्राणों के दीप कहां जो बालूं;
क्या मेरा है जो आज तुम्हें दे डालूं।

(२)

तुमने निज अधरों से मेरी तृष्णा के दृग खोले,
प्यास जगे, फिर जीवन चाहे मधु, चाहे विष घोले,
भरी हृदय के रस से तुमने मेरी खाली प्याली,
फिर उसे तुम्हारे प्याले में क्या ढालूं;
क्या मेरा है जो आज तुम्हें दे डालूं।

(३)

मैंने फिर हीरे मोती सी आँसू की निधि पाली,
पर मरुस्थल के वक्षस्थल से किसने धार निकाली,
खारे जल का अर्घ्य चढ़ाकर कौन बने अपराधी,
आँसू से अपने नयनों को नहलालूँ;
क्या मेरा है जो आज तुम्हें दे डालूँ।

(४)

छंदों में जो लय लहराती वह पदचाप तुम्हारी,
पायल की रुनझुन पर मेरा राग मुखर बलिहारी,
शब्दों में जो भाव मचलते उन पर क्या वश मेरा,
अपने को ही बहलाना है तो गा लूं;
क्या मेरा है जो आज तुम्हें दे डालूं।

तन त्रस्त कहीं, मन मस्त वहीं,
जिस ठौर लहरियां रागों की रस के मानस की गोदी में
चिर सुखमा का सावन गातीं।

(१)

यह सच है सब ने देखा है मुझको जग के कोलाहल में,
जिस जगह कि थिर अस्थिर होता, अस्थिर थिर होता पल पल में,
जिस जगह नहीं कुछ भी पाता अपना संगी, अपना साथी,
हर एक लगा है, लिपटा है अपनी धुन, अपनी हलचल में.
इस शोरे शरर के भीतर भी मैं गीत कहां से पाता हूं,
जो शांति बसी बरसी मुझमें यह जान कहां दुनिया पाती;
तन त्रस्त कहीं, मन मस्त वहीं,
जिस ठौर लहरियां रागोंकी रस के मानस की गोदी में
चिर सुखमा का सावन गातीं ।

(२)

यह सच है सबने देखा है मुझको मरु में आते जाते,
तावे-सी जलती बालू पर तलवों को अपने झुलसाते
अंधा करनेवाले अंधड़ में पथ अपना निश्चय करते,
चिनगारी-सी रेतोंवाली झंझा के झड़ झोंके खाते;
इन दाह भरे अभिशापों में मैं प्रीति कहां से पाता हूं,
मुझमें वरदान छलकते जो वह देख कहां दुनिया पाती;
तन त्रस्त कहीं, मन मस्त वहीं,
जिस ठौर तरंगें रागों की रस की सरिता से उठ-उठकर
प्यासे कूलों को नहलातीं ।
तन त्रस्त कहीं, मन मस्त वहीं,
जिस ठौर लहरियां रागों की रस के मानस की गोदी में
चिर सुखमा का सावन गातीं ।

(३)

यह सच है सब ने देखा है मुझको बेड़ी हथकड़ियों में,
जिनपर चलता कुछ जोर नहीं ऐसे लोहे की लड़ियों में,

कुछ जंजीरें जो लगती थीं ऊपर से सुरभित गजरों सी,
लीं डाल गले अपने मैंने खुद बेहोशी की घड़ियों में;
इतने बंधन में घिर छुटकर किसकी सत्ता जीती जगती,
निःशंक निरंकुशता मेरी पहचान कहां दुनिया पाती;
तन त्रस्त कहीं मन मस्त वहीं,
जिस ठौर कि मौजें रागों की रस के सागर से झूल झपट
जीवन के तटपर टकरातीं।
तन त्रस्त कहीं, मन मस्त वहीं,
जिस ठौर लहरियां रागों की रस के मानस की गोदी में
चिर सुखमा का सावन गातीं।

सुना कि एक स्वर्ग शोधता रहा,
सुना कि एक स्वप्न खोजता रहा,
सुना कि एक लोक भोगता रहा,
मुझे हरक शक्ति का प्रमाण है!
सुना कि सत्य से न भक्ति हो सकी,
सुना कि स्वप्न से न मुक्ति हो सकी,
सुना कि भोग से न तृप्ति हो सकी,
विफल मनुष्य सब तरफ समान है!
विराग मग्न हो कि राग रत रहे,
विलीन कल्पना कि सत्य में रहे,
धुरीण पुण्य का कि पाप में बहे,
मुझे मनुष्य सब जगह महान् है!

३१–रामधारी सिंह 'दिनकर'

'दिनकर' की कविता में देश-व्यापी जागरण का स्वर है। उसमें भारत के विगत स्वर्ण युग की सुहनली किन्तु ममतामयी करुण स्मृति है और वर्तमान समय में लौह शृंखलाओं से जकड़ी हुई आर्य्य-संस्कृति की पतित अवस्था के प्रति अपार अंसतोष है। 'दिनकर' में परवशता की कालरात्रि के सघन अन्धकार को बेध कर देश में स्वतंत्रता का आलोक भर देने की शक्ति रखने वाली किरणें अपने चमकीले पंख खोल रही हैं। 'दिनकर' एक परिवर्तन चाहते हैं, जिसके द्वारा भूखे नंगे भारत के लिए एक बार फिर उसका अतीत भविष्य बन सके। उनके विचारों में गति है और भावों में दृढ़ता। उनमें जैसे 'एक भारतीय आत्मा' की तरुणाई फिर खेलने लगी है।

दिनकर की 'हुंकार' में पौरुष है। उनके प्रत्येक शब्द में स्वदेश की मुक्ति का क्रन्दन है। 'रेणुका' उनका सर्वप्रथम संग्रह है और 'रसवंती' नवीनतम कृति है जो अपने नाम में ही सार्थकता छिपाये है। इनके स्वभाव में प्रकृति के प्रति एक अबोध आकर्षण है, जिसके कारण उन्हें निर्झर, पर्वत, उपत्यका तथा हरियाली सभी में आत्मीयता प्रतीत होती है। छविदर्शन तथा उसका यथार्थ अंकन उनमें गीतात्मकता के स्थान पर कथात्मकता अधिक उत्पन्न करना है। फलतः वे गीतिशैली के कलाकार न होकर विभिन्न विषयों पर कविताएं लिखने की ओर अधिक झुक गये हैं।

भाषा सुलझी हुई और भाव भी सीधे तथा तीखे हैं।

हिमालय के प्रति

मेरे नगपति ! मेरे विशाल !
साकार, दिव्य गौरव विराट !
पौरुष के पुंजीभूत ज्वाल !
मेरी जननी के हिम किरीट !
मेरे भारत के दिव्य भाल !
मेरे नगपति ! मेरे विशाल !

युग-युग अजेय, निर्बन्ध मुक्त,
युग-युग गर्वोन्नत, नित महान
निस्सीम व्योम में तान रहे,
युग से किस महिमा का वितान ?
कैसी अखंड यह चिर समाधि ?
यतिवर ! कैसा यह अमर ध्यान ?
तू महा शून्य में खोज रहा
किस जटिल समस्या का निदान
उलझन का कैसा विषम जाल,
मेरे नगपति ! मेरे विशाल !
ओ, मौन तपस्या लीन यती,
पल-भर को तो कर दृगोन्मेष !
रे ज्वालाओं से दग्ध, विकल
है तड़प रही पद पर स्वदेश ।

सुख सिन्धु, पंचनद, ब्रह्मपुत्र,
गंगा, यमुना की अमिय धार,
जिस पुण्य भूमि की ओर बही
तेरी विगलित करुणा उदार ।

जिसके द्वारों पर खड़े क्रान्त
सीमापति ! तूने की पुकार ।
पद-दलित इसे करना पीछे
पहले ले मेरा सिर उतार ।

उस पुण्यभमि पर आज तपी
रे ! आन पड़ा संकट कराल;
व्याकुल तेरे सुत तड़प रहे,
डस रहे चतुर्दिक विविध व्याल ।
मेरे नगपति ! मेरे विशाल !

कितनी मणियां लुट गईं ? मिटा
कितना मेरा वैभव अशेष ।
तू ध्यान मग्न ही रहा इधर
वीरान हुआ प्यारा स्वदेश ।

कितनी द्रुपदा के बाल खुले,
कितनी कलियों का अन्त हुआ,
कह हृदय खोल चित्तौर ! यहां
कितने दिन ज्वाल-वसन्त हुआ ।

पूछे, सिकता-कण से हिमपति
तेरा वह राजस्थान कहां
वन-वन स्वतन्त्रता दीप लिये
फिरने वाला बलवान कहां ?

तू पूंछ अवध से राम कहां ?
वृन्दा ! बोलो घनश्याम कहां ?
ओ मगध ! कहां मेरे अशोक ?
वह चन्द्रगुप्त बलवान कहां ?

पैरों पर ही है पड़ी हुई
मिथिला भिखारिणी सुकुमारी,
तू पूछ, कहां इसने खोई
अपनी अनन्त-निधियां सारी ?

री कपिलवस्तु ! वह बुद्ध देव
के वे मंगल-उपदेश कहाँ ?
तिब्बत, इरान, जापान, चीन
तक गये हुए सन्देश कहाँ ?

वैशाली के भग्नावशेष से
पूछ लिच्छवी-शान कहाँ ?
ओ री उदास गंडकी ! बता
विद्यापति-कवि के गान कहाँ ?

तू मौन त्याग कर पूछ आज
बंगाल नवाबी ताज कहाँ ?
भारत का अन्तिम ज्योति-नयन
मेरा प्यारा 'सीराज' कहाँ ?

तू तरुण देश से पूछ अरे !
गूंजा कैसे यह ध्वंस-राग ?
अम्बुधि-अन्तस्तल-बीच छिपी
यह सुलग रही है कौन आग ?

प्राची के प्रांगण बीच देख
जल रही स्वर्ण-युग अग्निज्वाल,
तू सिंहनाद कर जाग यती ।
मेरे नगपति ! मेरे विशाल !

रे ! रोक युधिष्ठिर को न यहाँ,
जाने दे उनको स्वर्ग धीर !
पर फिर हमें गांडीव, गदा,
लौटा दे अर्जुन , भीम वीर ।

कह दे शंकर से आज करें
वे प्रलय-नृत्य फिर एक बार,
सारे भारत में गूँज उठे
'हर-हर-बम' का फिर महोच्चार।

ले अंगड़ाई उठ, हिले धरा
कर जिन विराट स्वर में निनाद,
तू शैलराट ! हुँकार भरे
फट जाय कुहा, भागे प्रमाद ।

तू मौन त्याग, कर सिंहनाद
रे तपी ! आज तप का न काल,
नव युग-शंखध्वनि जगा रही
तू जाग, जाग, मेरे विशाल !

मेरी जननी के हिम-किरीट ।
मेरे भारत के दिव्य-भाल ।
नवयुग-शंख ध्वनि जगा रही ।
जागो नगपति ! जागो विशाल !

३२—भगवती चरण वर्मा

भगवतीचरण जी भी हिन्दी के अभिनव किन्तु बहुमुखी प्रतिभा वाले विचारशील साहित्यिक हैं। प्रणय-विह्वल प्राणी की पुकार उनकी कविताओं में सदैव ही रहती है। इस प्रेम में किसी भी आध्यात्मिक संकेत की स्थिति नहीं है, जीवन के यथार्थ की अनुभूतिमय व्यंजना है। यौवन के प्रत्येक स्पन्दन को ग्रहण करके उसे स्वर दे देने की लालसा इनमें प्रबल है।

इधर अपनी नवीन रचनाओं में वे जनवाद की ओर झुकते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। यह विशेषता समय के प्रत्येक नवीन हिन्दी कवि में दिखाई दे रही है। प्रणय के प्रभाव से कविता वियोग के दुःख से झुलस जाती है पर जीवन की चिन्ताओं से ग्रस्त होकर बौद्धिक दर्शन के प्रभाव में आ जाती है।

वर्मा जी कवि के अतिरिक्त उपन्यासकार तथा कहानी लेखक भी हैं। अनातोले फ्रांस की 'थाया' के अनुरूप लिखी गई 'चित्रलेखा' इनकी अमर कृति है। पाप-पुण्य के प्रश्न को लेकर इसमें कवि दार्शनिक बन गया है। 'तीन वर्ष' तथा 'पतन' अन्य दो और उपन्यास हैं। 'इन्स्टालमेंट' और 'दो बाकें' कहानी संग्रह हैं। इस कला में भी ये अपने कवि की तरह ही कुशल हैं।

'नूरजहाँ की कब्र पर' नामक कविता में उनका कहानीकार झलक रहा है।

भगवती चरण जी एक सफल गीतिकार हैं और वे भावनाओं के प्रकाशन में सिद्धहस्त हैं। कहने की उनकी अपनी शैली है जिस पर उनके व्यक्तित्व की छाप रहती है।

मेरी आग

निज उर की वेदी पर मैंने महायज्ञ का किया विधान,
समिधि बनाकर ला रक्खे हैं चुन चुनकर अपने अरमान,
अभिलाषाओं की आहुतियां ले आया हूँ आज महान,
और चढ़ाने को आया हूँ अपनी आशा का बलिदान;
अभिमन्त्रित करता है उसको इन आहों का भैरव राग;
जल उठ ! जल उठ ! अरी धधक उठ ! महानाश सी मेरी आग !

आमन्त्रित हैं यहां कसक से क्रीड़ाएँ करने वाले,
हृदय-रक्त से निज वैभव के प्यालों को भरने वाले,
जीवन की अतृप्त तृष्णा से तड़प तड़प मरने वाले,
अन्धकार के महा उदधि में अन्धों से तरनेवाले,
फूल चढ़ाने वे आये हैं जिनमें मिलता नहीं पराग,
जल उठ ! जल उठ ! अरी धधक उठ ! महानाश सी मेरी आग।

इस उत्सव में आन जुड़े हैं हँस हँस बलि होने वाले,
निज अस्तित्व मिटाकर पल में तन-मन-धन खोने वाले,
उर की लाली से इस जग की कालिख को धोनेवाले,
हँसने वालों के विषाद पर जी भरकर रोनेवाले,
आज आँसुओं का घृत लेकर आया है मेरा अनुराग,
जल उठ ! जल उठ ! अरी धधक उठ ! महानाश सी मेरी आग।

जहाँ हृदयवालों का जमघट पीड़ाओं का मेला है,
अर्घ्यदान है अपनेपन का, यह पूजा की वेला है,
आज विस्मरण के प्रांगण में जीवन की अवहेला है,
जो आया है यहाँ प्राण पर वह अपने ही खेला है,
फिर न मिलेंगे यें दीवाने, फिर न मिलेगा इनका त्याग,
जल उठ ! जल उठ ! अरी धधक उठ ! महानाश सी मेरी आग।

लपटें हों विनाश की जिनमें पलता हो ममत्व का ज्ञान,
अभिशापों के अंगारों में झुलस रहा हो विभव विधान,
अरे क्रान्ति कौ चिनगारी से तड़प उठे वासना महान,
उच्छवासों के धूम्र-पुंज से ढँक जावे जग का अभिमान;
आज प्रलय की वह्नि जल उठे, जिसमें शोला बने विराग,
जल उठ! जल उठ! अरी धधक उठ! महानाश सी मेरी आग!

३३–गुरुभक्त सिंह 'भक्त'

'नूरजहाँ' आपकी मुख्य रचना है। इस रचना में आपने कथावस्तु के साथ ही साथ प्रकृति वर्णन भी सुन्दरता से किया है। आपका मानव की सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक वृत्तियों का विश्लेषण गंभीर है। आपकी भाषा खड़ीबोली है। कथानक को आपकी कल्पना ने न केवल उभारा ही है वरन समुचित रंग भी दिया है। प्रेम के निकट रमणी के मन की मधुर हार कवि ने कुशलता पूर्वक 'नूरजहाँ' में चित्रित की है।

नूरजहाँ

(१)

अर्ध निशा में महानिविड़ तम घेरे था पृथ्वीतल,
अंधकार ही अंधकार दिखलाई देता केवल।
अपर लोकवासी थे लख पड़ते थे जो दृग-तारे'
वे भी मेघों की पलकों में छिपे नींद के मारे।

(२)

वारिद - तारों पर पावस ने बिजली को दौड़ाया,
हर्षनाद कर मित्रों को आगम जिसने बतलाया।
सूख गए थे जड़-जंगम जो विरहानल खा-खाकर,
पुनः हरा कर दिया उन्हें जीवन-संदेश सुनाकर।

(३)

हरियाली उट्ठी ऊपर को मिलने वारिद-माला,
पुलकित होकर उतर मेघ ने वारि करों को डाला।

नव लतिकाएँ थिरक थिरक कर घुँघरू लगीं बजाने,
घन-दामिन-संग ताल बजाकर लगा नाच दिखलाने।

(४)

मोती झड़ते देख श्याम-अलकों से, दामिन-पट से,
कलियाँ झाँक-झाँक मुसकाती पत्तों के घूंघट से।
रोमांचित भू ने पुलकित हो अगणित पुष्प चढ़ाए,
मेघ धूप ले अपने ऊपर भू को रहे बचाए।

(५)

छिपा 'पतंग' देख पृथ्वी ने कोटि पतंग उड़ाए,
निशि में जुगनू के तारों को तम-नभ पर बिखराए।
घन पृथ्वी को छू-छू लेता, पर्वत से टकराता,
मोर नाचता नदी बहाता, शोर मचाता आता।

(६)

कहता रहता, जले न कोई, सब हों शीतल छाती,
दामिनि मुझसे, लतिका-तरु से रहे सदा लपटाती।
पर पतंगनी नहीं मानती, स्नेह चिता जब जागी।
जीवन-पीप दिया कर ठण्डा, सह न सकी विरहागी।

(७)

पंख लगा कर अगम पंथ में, मानों नव अभिलाषा,
नव-जीवन के सुख-सोहाग की, मन में लिए पिपासा।
उड़ी, अभी दो चार हाथ थी, प्रेम-ज्योति देखी जो,
कई बार मोहित सी होकर, तन मन की सुध बुधखो

(८)

हँसते-हँसते स्नेहानल में, हुई एक मिल-मिलकर,
बिखरे पड़े अभी तक उसके, हैं आशाओं के पर।

पवन उन्हीं से खेल रहा था ले जा नीचे-ऊपर,
भस्म आँख में डोल रहा था, पड़ी रही जो भू पर।

(९)

देख रहे थे नयन किसी के, निशि भर थे जो जागे,
वे कैसे हँसकर जलते हैं, हृदय प्रेम अनुरागे।
दृग-मृग चंचल रहे चौकड़ी, भरते नभ से भू तक,
निद्रा हरियाली दिखलाकर हारी, सकी न छू तक।

(१०)

फँसे न पलकों के फंदे में, जो रजनी ने डाले,
मन से होड़ लगा कर उड़ते, रहे नयन मतवाले।
हत्याकाण्ड, प्राण की आहुति; कठिन प्रेम की लीला,
सका न अधिक देख रमणी का, कोमल हृदय रसीला।

(११)

किसी सोच में हो विभोर श्वासें कुछ ठण्डी खींचीं,
फिर झट गुल कर दिया, दिया को आँखें दोनों मीचीं।
ले निःश्वास पुनः खोली जो, देखा सम्मुख कोई,
लगी सोचने, मैं जगती हूँ, सचमुच या हूँ सोई।

(१२)

फिर आँखें मल लगी देखने, देखी मूरत काली,
तुरत छटपटा पहुँची उस पर झट तलवार निकाली।
बढ़ती हुई तड़प कर बोली, "ठहर कौन? क्यों आया?
कर दूँगी तलवार पार मैं पग, जो एक बढ़ाया।"

(१३)

खोल नकाब, कहा—"सलीम हूँ मेहर! मुझे न रोको,
'शेर' मार कर बनें अकंटक, करो सहाय न टोको।

वोलो नहीं, बताओ चुपके, कहाँ दुष्ट है सोया ?
बस, उसका है अंत आज ही, काटेगा जो वोया।

(१४)

कल बंगाल कौन जाता है, भेजू उसे जहन्नुम,
और अभी हो साथ साथ ही, चुपके चलो चलो तुम।"
"कौन ? कौन ? क्या तू सलीम है ? क्या सलीम शहजादा ?
पर घर जाकर तस्कर बनकर, ऐसा नीच इरादा।

(१५)

मेरा तो विश्वास और था, धोखा मैंने खाया,
जाओ, अभी निकल जाओ तुम, पग जो एक बढ़ाया
देती हूँ आवाज अभी मैं, चोर पकड़ जाता है,
हत्यारे का हाथ अभी ही, अभी जकड़ जाता है।

(१६)

पर नारी के घर में घुसना पति का खून बहाने,
फिर भी अपने को सलीम कह, आया मुंह दिखलाने।
रुको नहीं उलटे पावों तुम, फौरन पीछे जाओ,
हो कर कौन ? चले क्या करने जरा शर्म तो खाओ।"

(१७)

"मेहर ! मेहर ! क्या कहती हो, मैं हो गया पराया ?
मेरी भावी साम्राज्ञी ने, किसको है अपनाया ?
जो मेरी आँखों में रहती, वही आँख दिखलावे,
जो कल संग हवा खाती थी, आज हवा बतलावे।

(१८)

अपना ही साम्राज्य, उसी में घुसने तलक न पाऊँ,
मेरी वस्तु और ले जावे, मैं तकता रह जाऊँ।

मैं ही ख़ुद लूटा जाऊँ, मुझको कहो लुटेरा,
मुझको ही तुम चोर बनाओ, हृदय चुरा कर मेरा।"

(१९)

'पर अफ़ग़ान दिखला दो पहले, उसे खत्म तो कर लूँ
उसके बाद कहोगी जो कुछ, करने को हाज़िर हूँ।'
"बालापन से पूछो जाके, उच्छृंखलता सारी
सुमन-विकास मधुर अलि-गुंजन, मुक्ताओं की क्यारी

(२०)

उषा निज अंचल में भरकर चलती हुई विचारी,
जब से उस विवाह-दिनकर की, आई इधर सवारी।
आज सलीम! बात करते हो, जिससे, पर नारी है।
जो अपने कर्तव्य धर्म पर, तनमन धनहारी है।

(२१)

इससे उचित नहीं है तुमको सोचो अधिक ठहरना,
और किसी की पत्नी से यों बहकी बातें करना।
नहीं यहाँ साम्राज्य तुम्हारा, मेरा पावन घर है,
इसकी दीवारों के भीतर, दीपित धर्म अमर है।

(२२)

नहीं तुम्हारा राज्य चाहती, अपने घर की रानी,
ऐसे नहीं गिराना होता, कभी आँख का पानी।
मूर्ख बनो मत, सोचो समझो, धर्म नीति मत छोड़ो,
महा पतन की ओर न जाओ, पापों से मुख मोड़ो।

(२३)

है वह कौन मेरे जीते जी उन पर हाथ लगावे?
कभी न होगा, लाखों ही का, सर चाहे गिर जावे।

दोनों में से एक यहाँ पर, पहले सो जावेगा,
तब फिर बाल एक भी बाँका, उनका हो पावेगा।

(२४)

एक बार में फिर कहती हूँ, चुपके से चल दीजै ?
बहुत हो चुका है इतना ही, अब अधिक देर मत कीजै
राह लीजिए अपने घर की, जाने मत यह कोई
क्षण भर को तुम और रुके, तो अपनी इज्जत खोई।

(२५)

विनय मानते हो चुपके से, या आवाज लगाऊँ,
या हो रक्त देखना ही, तो अपने हाथ दिखाऊँ ?"
"ओ पाषाण हृदय ! बस बस, अब जाता हूँ मैं जाता,
क्या सचमुच तू वही मेहर है, समझ नहीं कुछ पाता।

(२६)

कल जो मुझे प्यार करता था, आज वही दुत्कारे।
कल तक के कोमल नाते, रौंदे क्षण में सारे।
स्वप्न देखता था क्या क्या मैं, तूने मुझे जगाया,
क्या सम्राट विश्व का होना, जो न तुझे अपनाया।

(२७)

लाख बधाई ! धन्य धन्य है ! तू जीती मैं हारा,
तेरे इस पाषाण कोट में, मेरा कहाँ गुजारा ?
अन्तिम बिदा ! चूक सब मेरी, करना क्षमा दया कर,
रमणी का रहस्य है, भगवन् सोचूंगा घर जाकर।

(२८)

शीश झुकाकर दृष्टि डालता, छिछली सी रमणी पर,
बड़े वेग में लौट चल दिया, फिर नक़ाब में छिपकर।

मेहर जमी रह गई वहाँ पर, हिली न बोली चाली,
मौन मूर्त्ति बन गई लिए, कर में करवाल निराली।

(२९)

ज्यों ही हुआ सलीम निकलकर, अंधकार में बाहर,
छूट गई तलवार हाथ से, गिरी अचेत धरा पर।

टिप्पणी

१—चन्द बरदाई

महोबा-खंड, प्रसंग—पृथ्वीराज और आल्हा का युद्ध हो रहा था। युद्धक्षेत्र में पृथ्वीराज मूर्छित होकर गिर गए। गिद्धनी ने मूर्छित पृथ्वीराज की आंख निकालने का उपक्रम किया। निकट ही युद्धभूमि में सज्जनराय भी घायल होकर पड़े थे। उनसे यह नहीं देखा गया। उन्होंने अपना मास गिद्धनी को देकर पृथ्वीराज की आंख बचाली।

धरतिय—भूमि; ततच्छिन—उसी क्षण; बिवान—विमान; सिंधुर—गज, हाथी; जसहीनो—यशहीन; मुगति—मुक्ति; चौरी—(यज्ञ) वेदी; द्रुग्गा—दुर्ग; राजमहल।

२—विद्यापति ठाकुर

ककरां—किस तरह; निशाकर—चन्द्रमा; तनिकहु—जरा भी; सरिससमान; आनक—पराये; भाखह—बोल; पहु—पाहुना, अतिथि; कनक—स्वर्ण; दछिन—दक्षिण; लुकैनह—छिपे; भनहि—कहते हैं।

३—कबीर साहब

मसि—स्याही; आधीनता—आधीन होना। यहां भावार्थ नम्रता है और ईश्वर के अर्थ में आत्मा-समर्पण; छरि—दूध; आखर—अक्षर; कंचन—स्वर्ण; कमला—लक्ष्मी; रमैयाकी दुलहिन—माया; साहब—परमात्मा; ठगनि—माया; घूंघट का पट—हृदय के द्वार.. द्वैत......मायाका प्रभाव .... दुराव; पीव—परमात्मा—प्रिय;

सांई—परमात्मा; पंचरंग चोल—पांचतत्त्वों—क्षिति, जल; अग्नि; गगन, वायु से बना हुआ शरीर; चदरिया—भावार्थ.....शरीर इंगल-पिंगला—नाड़ियां; नलिनी—आत्मा।

४—सूरदास

नवनीत—मक्खन; मधुप—भ्रमर; भुवनियां—त्रिभुवन; अलि-सुत—भ्रमर; जलसुत—कमल; सारंग—हरिण; नाद—शब्द.. संगीत; मधुकर—भ्रमर; पहुप—फूल.....पुष्प; अनल—अग्नि; बायस—कौए; मीन—मछली; बापुरी—विचारी; अवगुन—अवगुण; मन पंछी—मन पक्षी.....प्राण; मरकट—बन्दर; अन्तिम पद 'साहित्य लहरी' से लिया गया है—अर्थ लाक्षणिक है। 'साहित्य लहरी' का रचना काल दिया गया है—मुनि—७; रसन.....अर्थहीन अथवा शून्य—०; रस—६; दसन गौरीनन्दन—१ (१६०७) नन्द नन्दन; मास—वैशाख छै हीन तृतीया—अक्षय तृतीया; तृतिय ऋक्ष—कृतिका, नक्षत्र, सुकर्म योग।

५—मालिक मुहम्मद जायसी

दीठी—दिखई पड़ी; अगर—सुगन्धित पदार्थ विशेष; अथयो—अस्त होना; रतनार—लाल; उपराजा—उत्पन्न होना; बैस—अवस्था; मीच—मृत्यु;

६—मीराबाई

गगन अराउल—आकाशमंडल, शून्य; संवलिया—परमात्मा, कृष्ण; खेवाय्या—खेनेवाला; रसाल—मधुर; भक्त-वछल—भक्तों पर कृपा करने वाले; अटक—भय, बाधा।

७—तुलसीदास

भामिनी—स्त्री; राजीवलोचन—कमलनयन; आयसु—आज्ञा;

अव्यक्त—जिसका वर्णन न किया जा सके.....यह ब्रह्म के लिए प्रयोग में आता है। दैहिक, दैविक, भौतिक—तीन प्रकार के ताप—शारिरिक, मानसिक एवं तदेतर; अनारम्भ—अनादि—यह भी ब्रह्म के लिए आता है। सकारे—प्रातःकाल; जातक—बच्चा; उभै—दो; अनंग—कामदेव; लोल—सुन्दर; केतिक—कितनो दूर; सरासन—धनुष; सायक—बाण; सिलीमुख—बाण; रतिनायक—कामदेव; जातुधान राक्षस; पवमान—हवा; मराल—हंस; तिमिर— अंधकार; तरनि—सूर्य ; चन्चरीक—भ्रमर; मूषक—मस; चूहा; कुवै—काटना; सुरतरु—कल्पतरू; तड़ित—विजली; आजानभुज—बड़ी भुजा वाले।

८—रहीम

सुचहिं—सन्चित करते हैं। वित—धन; उवत—उदय होना; अथवत—अस्त होना; कुराउली—रस्सी; सलोने—सुन्दर; अनरीते—भरना; सफरनि—मछली।

९—केशवदास

कैरम, नरकासुर, मधु और मुर राक्षस विशेष हैं। कारतार हुं—परमात्मा; करतार—हथेली।

१०—रसखान

कालिन्दी—जमुना, यमुना; कलधौत—सोना; दिनेस—सूर्य, सुरेस—इन्द्र; छोहरियां—लड़कियां; छछिया—थोड़ा सा; छाछ—मट्ठा।

११—सेनापति

विरद—बड़ाई; तचित—जलती हैं; सीरो—शीतल—विरमतु ठहरना; आराम करना; छिति—पृथ्वी; पुरपाक—भीम; औषधि विशेष; अध उरध—नीचा ऊंचा, नीचे ऊपर; द्यौस—दिवस।

१२—विहारीलाल

समर—कामदेव; दीरघ—भीषण; दाघ—गर्मी; मावस—अमावस्या; श्रुति—वेद; स्मृति—शास्त्र; वायस— कौवा।

१३—भूषण

जम्भ—राक्षस विशेष; सुअम्भ—जल; बारिवाह—बादल; रतिनाह—कामदेव; सहस्त्रबांह—हजार बाहु वाला राक्षस जिसका वध परशुराम ने किया था; द्विजराज—परशुराम; वितुराड—हाथो; समसेर—तलवार; मन्दर—पहाड़।

१४—देव

सविता—सूर्य; नाहन—सिंह; नर-नाहन—वीरपुरुष, सम्राट; रावरी—आपकी; पेखिये—देखिये, परीक्षा करना; वीथी—गली; विथुरे—बिखरी हुई; इंदिरा—चांदनी; चन्द्रमा; कुरेपरी—भर जाना।

१५—वृन्द

भेषज—औषधि; आरसी—दर्पण; आर—मदार।

१६—सहजोबाई

चेतै—जागे; मैं अखण्ड आदि—आत्मा के लिए कहा गया है; ज्ञानी—ब्रह्म ज्ञानी।

१७—पद्माकर

कलित—सुन्दर; वीथिन—गली; वगरयो—फैला है; कलिन्जर-हाथी; गैल—मार्ग।

१८—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

सोई—वही; मंझारी—बीच; वर—श्रेष्ठ; सिवा—स्यारिन;

बेस—उमर; अधरछली—अधरों का छल करने वाली बांसुरी; नवनीत-प्रिय—जिन्हें माखन प्यारा है ऐसे श्रीकृष्ण।

१९—जगन्नाथ दास 'रत्नाकर'

सिरै हैं—दबाएंगी;

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

पावन बारि—पवित्र पानी; दामिनी—बिजली; दुख बारिधि—दुख का समुद्र; प्रकम्पित—कांपते हुए; गिरि-कन्दरा—पर्वत खोह; सुबोध—सरल; मही—पृथ्वी; विकच-वदना—खिला हुआ मुंह; क्षिति-छटा— पृथ्वी की शोभा; पादप—वृक्ष; विभा—सौन्र्यंदका प्रकाश; विध—चन्द्रमा; उडु-माला—तारों की माला।

२१—मैथिली शरण गुप्त

अतुल—बहुत सा, जिसकी तुलना न हो; मुखरित—बोलता हुआ; सुधा सन्धान—अमृत की प्राप्ति; पाण्डुरता—पीलापन; मानस-भाजन—मन रूपी बर्तन; जालगता—जाले में फंसा हुआ; अघ—पाप; भक्षक—खानेवाला।

२२—सुभद्रा कुमारी चौहान

मर्दानी—पुरुषोचित वीरतापूर्ण; आराध्य—इष्टदेवी; अवि-नाशी—शाश्वत।

२३—जयशङ्कर प्रसाद

अन्तर्निहित—छुपना; आच्छादन; ढक देना; व्योम—गगन; आकाश; गगन चुम्बिनी शैलश्रेणियां—पर्वत की आकाश को छूने वाली चोटियां; पर्वत की बहुत ऊंची चोटियां।

२४—रामनरेश त्रिपाठी

आच्छादित—ढका हुआ; विमलोक—स्वच्छ जल; सुरभित—सुगन्धित पल्लवों—पत्तों;; तुषार धवल—बर्फ से सफेद; प्रवाहित—बहती हुई।

२५—सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

दिवा—दिवस, दिन; सरसिज—कमल; विटप—वृक्ष; भव-सागर—संसार रूपी समुद्र; सुधाकर—चन्द्रमा; दिग्वसना— दिशाओं का वस्त्र धारण करने वाली।

२६—महादेवी वर्मा

निर्माण—रचना; नीरव—मौन, चुपचाप; तिमिर—अंधेरा; प्रस्तरों—पत्थरों; दिग-भ्रान्त—मार्ग भूला हुआ; यामिनी—रात।

२७—सुमित्रानन्दन पंत

ज्योतिर्मय—ज्योतिपूर्ण; मुकुलित—खुले हुए; ज्योत्स्ना—चांदनी; अन्तस्तल—भीतरी भाग; शाश्वत—नित्य; सदा, चिरन्तन।

२८—माखनलाल चतुर्वेदी

हीतल—हृदय; दीठ-डोरियाँ—दृष्टिरूपी रस्सियाँ।

२९—रामकुमार वर्मा

क्रियाशील—कर्म करने योग्य; विभूतियाँ—वैभव, ऐश्वर्य; स्वप्नावसान—स्वप्न समाप्त हो जाना; विश्व वंद्य—संसार भर के लिए पूज्य, वन्दना करने के योग्य; गतिशील—चल रहा; भीषण भयानक; अरुण—लालिमा, सूर्य का सारथी; कलुषित—कलंकित।

३०—हरिवंश राय 'बच्चन'

त्रस्त—भयभीत; सुखमा—सुषमा; तावे-सी—तवेसी; मौजे—लहरें; शोधता—ढूंढता; धुरीण—श्रेष्ठ।

३१—रामधारी सिंह 'दिनकर'

नगपति--पर्वतों के पति, पर्वतों में श्रेष्ठ; पुंजीभूत--एकत्रित; निस्सीम व्योम--सीमारहित, असीम आकाश; भग्नावशेष--खंडहर।

३२—भगवती चरण वर्मा

उदधि--समुद्र; अनुराग--प्रेम; शोला--अग्नि की ज्वाला।

३३—गुरुभक्त सिंह 'भक्त'

अर्धनिशा--आधीरात; पतंग का प्रयोग यहाँ पहले सूर्य के लिए और दूसरा पतिंगों के लिए है; पाषाण--पत्थर।